आधुनिक कहानियाँ



सम्पादक

डॉ० हरदेव बाहरी,

एम. ए., एम. ओ. एल., पी-एच. डी.,

डी. लिट्., शास्त्री

अध्यापक, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय,

प्रयाग

प्रकाशक

मेहरचन्द मुन्शीराम

प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता

१० बी, फ़ैज बाजार, दिल्ली ।

प्रकाशक
मनोहरलाल जैन
अध्यक्ष, मेहरचन्द मुन्शीराम
दिल्ली

1952
प्रथम संस्करण १६५२
मूल्य सजिल्द ३॥)

मुद्रक
कैक्स्टन प्रेस
कनाट सरकस,
नई दिल्ली

भूमिका

भारतवर्ष में कथा-साहित्य का आदि छोर वेद, उपनिषद् आदि में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत के उपाख्यानों और जातक-कथाओं का भी अपना महत्व है। परन्तु इनका उद्देश्य मनोरंजन न होकर किसी गंभीर दार्शनिक अथवा धार्मिक तत्व की विवेचना करना ही है। संस्कृत में मनोरंजन के लिए लिखी गई कहानियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश का कथा-साहित्य बहुत समृद्ध कहा जा सकता है। लेकिन इनका उद्देश्य भी प्रायः नीति और धर्म की शिक्षा देना ही है। पुराणों की कथाओं को भी इसी परम्परा में लिया जाता है। प्राचीन काल की लोक-कथायें, जिनके कुछ नमूने 'सिंहासन बतीसी', 'वैताल-पच्चीसी', 'भोजप्रबन्ध' आदि में मिलते हैं। मनोरंजन के लिए कही जाती होंगी। इनमें प्रसिद्ध राजाओं तथा शूर-वीरों के प्रेम, वीरता तथा लोकसेवा का अतिरंजित वर्णन हुआ करता था। बहुत दिनों बाद राजा विक्रमाजीत, भरथरी, गोपीचन्द, मुञ्ज, भोज, पृथ्वीराज, आल्हाऊदल आदि की कहानियों का प्रचार रहा।

प्राचीन कहानियों की एक और विशेषता उनमें प्रेम का चित्रण है। कालिदास, भवभूति, शूद्रक, बाण आदि की कृतियाँ, नल-दमयन्ती, उषा-अनिरुद्ध आदि की कथायें, डिंगल भाषा की तथा-कथित वीर-गाथायें, सूफ़ियों के प्रेमाख्यान इत्यादि सब प्रेम-प्रधान हैं। इन कहानियों में घटना-वैचित्र्य, अस्वाभाविक तथा आकस्मिक बातों का समावेश, अतिमानुषिक अथवा अमानुषिक पात्रों के कार्य और मनोरंजकता विशेषतया उपलब्ध होती है।

आधुनिक कहानी में राजा-रानी की जगह जनसाधारण का जीवन रहता है। इसमें मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क की प्रधानता है। इसमें कल्पना-शक्ति का सबसे अधिक उपयोग होता है। कल्पना ही कहानी का प्राण है। घटनाओं और चरित्रों का क्रम तथा कार्य निश्चित करना कल्पना-शक्ति का ही काम है। कम-से-कम पात्रों और घटनाओं की सहायता से अधिक-से-अधिक प्रभाव और वातावरण की सृष्टि की जाती है। निरर्थक प्रसंगों और घटनाओं के लिए इसमें स्थान नहीं है। सब से बड़ी विशेषता आज की कहानी की यह है कि वह स्वाभाविक होती है, अर्थात् कोई घटना, कोई दृश्य, कोई चरित्र ऐसा नहीं होता जो जीवन में देखने को न मिलता हो। कहानी यथार्थता और सत्यता के निकट होती है।

श्रेष्ठ कहानियों की प्रमुख विशेषतायें ये हैं—

१. शीर्षक उत्सुकतापूर्ण तथा रहस्यात्मक हो, जैसे 'करीम मर गया', 'कोटर और कुटीर', 'बूढ़ी काकी', 'काठ का घोड़ा', इत्यादि।

२. भाषा सरल और सरस हो तथा बोलचाल की भाषा के निकट हो। इस दृष्टि के जयशंकर प्रसाद और चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ दुरूह और कठिन हैं। इनका पूरा-पूरा रसास्वादन बहुत थोड़े व्यक्ति कर सकते हैं। प्रायः आधुनिक कहानीकारों की भाषा चलती हुई और मुहावरेदार होती है।

३. घटनायें विस्तृत न हों।

४. वर्णन-विस्तार कम हो।

५. मानव जीवन के द्वन्द्वों का चित्रण हो।

६. कहानी पढ़ने या सुनने वाले में निरन्तर उत्सुकता की वृद्धि होती रहे ।

७. चरमाह्लाद प्रभावोत्पादक हो। कहानी पढ़कर हृदयस्पर्शिता का अनुभव हो।

८. चरित्रों और घटनाओं में यथार्थता हो।

९. घटनाओं की अपेक्षा जीवन-तत्व अधिक हो।

१०. कहानी में अवांतर कथाएँ न हों ।

११. कथावस्तु एक भाव या विचार की व्याख्या करे।

आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रारम्भ 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के प्रकाशन से सन् १९०० ई० में होता है। शुरू-शुरू में अँगरेजी और बंगाली की बीसियों कहानियों के अनुवाद इन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। कई नाटकों को भी कहानी-रूप में प्रकाशित किया गया। प्रारम्भिक काल के अनुवादकों और रूपांतरकारों में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, के मैनेजर बाबू गिरिजाकुमार घोष का नाम प्रसिद्ध है। इन्होंने कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। कहानियों की ओर जनता की रुचि बढ़ाने में आपकी सेवायें सराहनीय हैं।

सन् १९०० से १९१० ई० तक हिन्दी कहानी का प्रयोगात्मक युग कहा जाता है, जब कि कहानी की कोई निश्चित परम्परा न थी। सन् १९११ में जयशंकर प्रसाद की एक कहानी 'ग्राम' नाम से प्रकाशित हुई। इसी समय से हिन्दी में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, सुदर्शन आदि की कहानियाँ सामने आईं। कौशिक और गुलेरी ने यथार्थवादी कहानियों का और प्रसाद जी ने आदर्शवादी तथा कवित्वपूर्ण कहानियों का रूप उपस्थित किया। सन् १९१६ ई० में मुन्शी प्रेमचंद ने हिंदी कथा-

साहित्य में प्रवेश किया। इन्होंने यथार्थ चित्रण के साथ आदर्श की रक्षा करते हुये कहानियाँ लिखीं। इनका चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक होता था। इस दृष्टि से प्रेमचंद अद्वितीय थे। इनकी प्रेरणा से नवयुवक कहानीकारों का एक दल उठ कर खड़ा हुआ। अनेक हिंदी-लेखकों ने प्रेमचंद की सरल भाषा, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, यथार्थ और आदर्श के समन्वय को अपनाया। सुदर्शन, सियारामशरण गुप्त, शिवपूजनसहाय आदि अनेक कहानीकार प्रायः इसी ढंग की कहानियाँ लिखते रहे।

सन् १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद बहुत से नवीन कहानी-लेखकों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेमचंद ने तो साधारण चरित्रों का मनोविश्लेषण किया था, इन लोगों ने मानव-जीवन को असाधारण परिस्थितियों में देखा। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानी 'मिठाई-वाला' उदाहरण-स्वरूप ली जा सकती है। इसमें एक असाधारण व्यक्ति का चरित्र चित्रित है। फिर भी बात असम्भव नहीं जान पड़ती। यही इन कहानियों का सौंदर्य है। उग्र, जैनेन्द्र और इलाचंद्र जोशी ने मनोविज्ञान की बारीकियों में पैठ कर हमारे कहानी-साहित्य में क्रांति लाने का प्रयत्न किया।

सन् १६२८ के बाद हिंदी कहानियों की कलात्मकता और व्यंजना-शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा चंद्रगुप्त विद्यालंकार और दूसरे कहानीकार जीवन के सामयिक तथा मनोवैज्ञानिक सत्यों की व्यंजना करने लगे। प्रस्तुत संग्रह में चंद्रगुप्त विद्यालंकार की एक कहानी है 'कामकाज'। लेखक जीवन में से तीन दृश्य देकर मानो कहते हैं--"देखो, कामकाज से पीछे मानवता की बलि चढ़ाई जा रही है। इन्सान पशु हो रहा है।"

सन् १९३६ से प्रगतिवाद का युग प्रारम्भ होता है। अब कहानी के विषय भी बदले और दृष्टिकोण भी। समाजवादी विचारधारा के प्रसार के साथ-साथ मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का महत्व कम होता गया। व्यक्ति को अपने समाज का प्रतीक भी समझा गया। वह जो कुछ करता है उसका समाज पर प्रभाव पड़ता है और समाज का उसकी मनोवृत्तियों को ढालने में प्रभाव रहता है। यशपाल, अश्क, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, पहाड़ी आदि अनेक कहानीकार समाजवादी दृष्टिकोण लेकर सामने आये। इनमें काव्यात्मकता कम और बौद्धिकता अधिक है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों और चंद्रकिरण सौनरेक्सा की कहानियों का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। कुछ कहानियाँ राजनैतिक सिद्धांतों को कथा-रूप में सामने लाने के लिए लिखी गई हैं। बहुत-सी साम्यवादी कहानियाँ इसी तरह की हैं। इनमें वर्ग-संघर्ष, नारी का विद्रोह, धार्मिकता का खोखलापन, धनिकों के रहस्य, रूढ़ियों पर व्यंग्य इत्यादि अनेक नये विषय हैं।

आज भी प्रगतिवादी कहानियाँ लिखी जा रही हैं, लेकिन नवयुवक लेखक वाद में बँध कर लिखना नहीं चाहता! आज हमारी कहानी कई दिशाओं में निकल गई है। इसके विषय अनंत हैं, इसकी शैलियाँ अनेक हैं, इसके रूप और इसके उद्देश्य बहुत हैं। हमारे कथा-साहित्य की इन पाँच-दस वर्षों में इतनी उन्नति हुई है कि हम संसार के किसी भी कथा-साहित्य के सामने इसे रख कर गौरवान्वित हो सकते हैं। नवयुवक कहानी-लेखकों में धर्मवीर भारती, रांगेय राघव, रामचंद्र तिवारी, वीरेन्द्रकुमार, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, लक्ष्मीनारायण लाल आदि प्रसिद्ध हैं।

प्रस्तुत संग्रह

कहानियों का यह संग्रह कुमार अवस्था के बालकों और बालिकाओं के लिए तैयार किया गया है। इन कहानियों का चुनाव करते समय हमें हिन्दी के स्वर्गीय, वर्तमान और उदीयमान सभी कहानी-लेखकों की रचनाएँ देखनी पड़ीं। ३-४ सौ कहानियाँ तो ऐसी मिलीं जो कहानी-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कही जा सकती हैं, परन्तु वे सब हमारे काम की न थीं। किन्हीं में शृङ्गाररस की अधिकता (जैसे पहाड़ी और ऋषभचरण जैन की कहानियों में) किन्हीं में अश्लील शब्दों का प्रयोग (जैसे उग्र की कहानियों में), किन्हीं की भाषा की जटिलता और भावों की गहनता (जैसे जयशंकर प्रसाद और जैनेन्द्र की कहानियों में) और किन्हीं की सामग्री या प्रतिपादन-शैली हमारे उद्देश्य के अनुकूल न थी। हमने ऐसी कहानियों को इस संग्रह में नहीं रखा।

हम ने हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों का चयन किया है। 'बदला' और 'करीम मर गया' आदर्शवादी कहानियाँ हैं; 'काठ का घोड़ा' यथार्थवादी है, और 'कृतज्ञता' तथा 'वेश्या की लड़की' में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय है। 'प्रतिज्ञा' भावपूर्ण और काव्यमय कहानी है। 'कोटर और कुटीर' में प्रतीक है और मनुष्य और प्रकृति का सुन्दर भावना-सम्बन्ध दिखाया गया है। 'जीजी' और 'प्रायश्चित' में पारिवारिक और सामाजिक जीवन पर तीखा और गहरा व्यंग्य है। 'वेश्या की लड़की' सुधारवादी कहानी है, 'कामकाज' प्रभाववादी है और जीवन के एक सत्य की व्यंग्यात्मक व्याख्या करती है। 'बूढ़ी काकी' और 'जीजी' में साधारण नारी के और 'मिठाईवाला', 'मिस्त्री' तथा 'भगत जी'

में एक-एक असाधारण पुरुष के मनोविज्ञान का विश्लेषण हुआ है। 'जीजी' व्यंग्यात्मक है तो 'पंडित जी' हास्यात्मक। वैसे दोनों में हास्य और व्यंग्य का सम्मिश्रण है। 'हरिनाकुस और उसका बेटा' अपनी शैली और विषय में एक नई दिशा का संकेत करती है।

इस संग्रह में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो कथा-प्रधान हैं जैसे 'काठ का घोड़ा', 'करीम मर गया', 'बदला' आदि। कुछ में कथा का अंश बहुत कम है, जैसे 'प्रतिज्ञा' अथवा 'मिस्त्री' में और कुछ में कथा शायद है ही नहीं, जैसे 'भगत जी'।

विषयों की दृष्टि से भी इस संग्रह में सब तरह की कहानियाँ आ गई हैं—वैयक्तिक (भगत जी) सामाजिक (वेश्या की लड़की) पारिवारिक (जीजी हरिनाकुस और उसका बेटा), राजनैतिक (प्रतिज्ञा), ऐतिहासिक (करीम मर गया), सैद्धांतिक (कामकाज, कोटर और कुटीर), मनोवैज्ञानिक (मिस्त्री), इत्यादि।

सामग्री की दृष्टि से इन कहानियों में 'बूढ़ी काकी', 'वेश्या की लड़की', 'मिस्त्री', 'पंडित जी', 'जीजी' तथा 'मिठाईवाला', 'भगत जी' चरित्र-प्रधान हैं; 'करीम मर गया', 'बदला', 'कृतज्ञता' और 'काठ का घोड़ा' घटना-प्रधान हैं; 'प्रायश्चित', 'हरिनाकुस और उसका बेटा' और 'प्रतिज्ञा' वातावरण-प्रधान हैं; 'काम-काज', 'बूढ़ी काकी' प्रभाव-प्रधान हैं।

सुरुचि के अनुरोध से हम 'उग्र' की सी प्रकृतिवादी और पहाड़ी की सी शृङ्गारिक कहानियों को इस संग्रह में स्थान नहीं दे सके। अन्य सभी प्रकार की, सभी वर्गों की और सभी लब्ध-

प्रतिष्ठ उच्च कोटि के कहानी-लेखकों की एक-एक कहानी इस संग्रह में दे दी है।

हमने किसी कथाकार की भाषा को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा करना हमारे अधिकार से बाहर है। हमने यथा-सम्भव कहानीकार के निजी वर्णविन्यास, वाक्यविन्यास, शब्द-प्रयोग को अक्षुण्ण रूप में देने की चेष्टा की है।

इस संग्रह की एक और विशेषता यह है कि कहानीकारों का साहित्यिक परिचय देने के बाद हमने उनकी उपस्थित कहानी के भाव और उद्देश्य की भी व्याख्या कर दी है जिससे पाठकों को कहानी समझने में सुविधा होगी।

अंत में हम उन सभी लेखकों और लेखिकाओं को हृदय से धन्यवाद देते है जिनकी कहानियाँ हमने इस संग्रह में एकत्र की हैं। हम स्वर्गत कहानीकारों के उत्तराधिकारियों के भी अत्यन्त आभारी हैं। इन सब ने बड़ी उदारता से हमें अपनी-अपनी अनु-मति प्रदान करके अनुगृहीत किया है।

हिन्दी-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
दशहरा, सं० २००६

हरदेव बाहरी

सूची

स्वर्गीय प्रेमचन्द

हिंदी गल्प-सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द का जन्म वनारस के पास लमही ग्राम में सन् १८८४ में हुआ। उनका असली नाम धनपतराय था, परन्तु लोगों में उनका साहित्यिक नाम प्रेमचंद ही प्रसिद्ध है। वे पहले अध्यापक थे, धीरे-धीरे उन्नति करके सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर हो गये। सन् १९१९ के असहयोग-आंदोलन में आपने अपने पद से स्तीफा दे दिया, और साहित्य-सेवा में लग गए। पहले उर्दू में लिखते थे, सन्' १६ से हिंदी में लिखने लगे। सन् १९३६ में आपका देहांत हो गया।

प्रेमचंद ने 'गोदान', 'रंग–भूमि', 'कर्मभूमि', 'कायाकल्प', 'वरदान', 'निर्मला' आदि अनेक उपन्यास भी लिखे। आपकी कहानियाँ ३०० के लगभग प्रकाशित हैं। अब ये 'मानसरोवर' (आठ भाग) में संगृहीत मिलती हैं।

मानव-जीवन के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्रेमचंद अद्वितीय हैं। प्रस्तुत कहानी में लेखक ने बुढ़िया के लालच की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखा को भी अङ्कित कर दिया है और रूपा में उन्होंने स्त्री-हृदय का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। इसमें कहानी का अंश तो बहुत कम है, पर मानव-चरित्र का अंतर्जीवन बड़े कलात्मक और मनोरंजक ढंग से चित्रित हुआ है। बच्चों की मनोवृत्ति का वर्णन भी अत्यंत स्वाभाविक हुआ है। भाषा अत्यंत सरल और सरस है।

बूढ़ी काकी

(बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है) बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ, नेत्र-हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहती और जब घर वाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, या भोजन का समय टल जाता, उसका परिमाण पूरा न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो रोने लगती थीं। उनका रोना—सिसकना साधारण रोना न था, वह गला फाड़—फाड़कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालांतर हो चुका था। बेटे तरुण हो-होकर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी थी। भतीजे ने सम्पत्ति लिखाते समय तो खूब लम्बे चौड़े वायदे किये, परन्तु वे सब वायदे केवल कुली-डिपो के दलालों के दिखाये हुए सब्ज बाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़—दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट-भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पण्डित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्धाङ्गिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक, जब तक कि उनके कोष पर कोई आँच न आये। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भला मानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती; परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सच्चेष्टा को दबाये रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग-अलापने लगती तो वह आग हो जाते और घर में आकर उन्हें जोर से डाँटते। लड़कों को बूढ़ों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब माता-पिता का वह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काटकर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मार कर रोती, परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिए रोती है, अतएव उनके संताप और आर्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी कभी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगती तो रूपा घटनास्थल पर अवश्य पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थी। यद्यपि उपद्रव-शान्ति का वह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाड़ली थी। लाड़ली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई-चबैना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में प्रेम और सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुण्ड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन

कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरुदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों के "वाह, वाह' पर ऐसा खुश हो रहा था मानो इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो-एक अंग्रेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार-मंडली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के सुखराम का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्ठियों पर कड़ाह चढ़े थे। एक में पूड़ियाँ-कचौड़ियाँ निकल रही थीं। दूसरे में अन्य पकवान बन रहे थे। एक बड़े हंडे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधा-वर्धक सुगन्धि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचार की भाँति बैठी हुई थीं। वह स्वाद-मिश्रित सुगन्धि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन-ही-मन विचार कर रही थीं, सम्भवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गई, कोई भोजन लेकर नहीं आया, मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया; परन्तु अपशकुन के भय से वह रो न सकी।

आह; कैसी सुगन्धि है! अब मुझे कौन पूछता है? जब रोटियों ही के लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भरपेट पूड़ियाँ मिलें!—यह विचारकर उन्हें रोना आया, कलेजे में एक हूक-सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन्होंने फिर भी मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक उन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रही। घी और मसालों की सुगन्धि रह-रहकर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने लगती थी। किसे पुकारूँ; आज लाड़ली बेटी भी नहीं आई। दोनों छोकरे सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-लाल, फूली–फूली, नरम–नरम होंगी। रूपा ने भली भाँति मोयन दिया होगा। कचौरियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूरी मिलती तो जरा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चलकर कड़ाह के सामने ही बैठूं। पूड़ियाँ छन-छनकर तैरती होंगी। फूल हम घर में भी सूँघ सकते हैं; परन्तु वाटिका में कुछ और बात होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढ़ी काकी उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरी और धीरे-धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास जा बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खाने वाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समय कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में, कभी कड़ाह के पास आती, कभी भंडार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—महाराज ठंडाई माँग रहे हैं। ठंडाई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—भाट आया है, उसे कुछ दे दो। भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा—"अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है? जरा ढोल-मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ती-दौड़ती व्याकुल हो रही थी, झुंझलाती थी, कुढ़ती थी, परन्तु क्रोध प्रकट होने का अवसर न पाती थी। भय होता-कहीं पड़ोसिनें

यह न कहने लगें कि इतने में ही उबल पड़ी। प्यास से स्वयं उसका कंठ सूख रहा था। गरमी के मारे फूंकी जाती थी, परन्तु इतना अवकाश भी नहीं था कि ज़रा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि ज़रा आँख हटी और चीजों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाही के पास बैठा देखा तो जल गई। क्रोध न रुक सका। इसका भी न ध्यान रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेढ़क केंचुए पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झिंझाड़कर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़? कोठरी में बैठते क्या दम घुटता था? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान् को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका? आकर छाती पर सवार हो गई। जल जाय ऐसी जीभ। दिन-भर खाती न होती न जाने किसकी हाँडी में मुंह डालती? गाँव देखेगा तो कहेगा बुढ़िया भरपेट खाने को नहीं पाती, तब तो इस तरह मुंह बाये फिरती है। डाइन न मरे न मांचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर दम लेगी। इतनी ठूंसती है, न जाने कहाँ भस्म हो जाता है। लो! भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुंह में पानी न जाय, परन्तु तुम्हारी पूजा पहले हो जाय। बूढ़ी काकी ने सिर न उठाया, न रोई, न बोलीं। चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गई। आघात ऐसा कठोर था कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, सम्पूर्ण विचार और सम्पूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गए थे। नदी में जब कगार का कोई वृहद् खण्ड कटकर गिरता है तो आस-पास का जल-समूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।

भोजन तैयार हो गया। आँगन में पत्तल पड़ गईं। मेहमान

खाने लगे। स्त्रियों ने ज्योनार के गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेह–मानों की नाईं और सेवकगण भी उसी मंडली के साथ, किन्तु कुछ हटकर, भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सब-के-सब खा न चुकें कोई उठ नहीं सकताथा। दो-एक मेहमान, जो कुछ पढ़े-लिखे थे, सेवकों के दीर्घाहार पर झुँझला रहे थे। वे इस सम्बन्ध को अर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जाकर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ से कहाँ गई। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाजी पर दुःख था। सच ही तो है, जब तक मेहमान लोग भोजन न कर चुकेंगे घर वाले कैसे खायँगे। मुझसे इतनी देर भी नहीं रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयगा न जाऊँगी।

मन-ही-मन इसी प्रकार विचार करके वह बुलाने की प्रतीक्षा करने लगी। परन्तु घी का रुचिकर सुवास बड़ा ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रहा था। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गए होंगे। अब मेहमान आ गए होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं। नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गए। ज्योनार गाया जा रहा है, यह विचारकर वह मन को बहलाने के लिए लेट गईं। धीरे–धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गई। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे? किसी की आवाज़ नहीं सुनाई देती। अवश्य ही लोग खा-पीकर चले गए। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गई है। क्या जाने, न बुलाये। सोचती हो कि आप ही आयगी, वह कोई मेहमान तो है नहीं जो उन्हें बुलाऊँ। बूढ़ी काकी चलने के लिए तैयार हुई। यह विश्वास कि एक मिनट में पूड़ियाँ और मशालेदार तरकारियाँ सामने आयँगी उसकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा।

उन्होंने मन में तरह-तरह के मनसूबे बाँधे—पहले तरकारी से पूड़ियाँ खाऊँगी। फिर दही और शक्कर से। कचौरियाँ रायते के साथ मजेदार मालूम होंगी। चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग-माँगकर खाऊँगी यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं। कहा करें इतने दिनों के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ आऊँगी।

वह उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल खिसकती आँगन में आई। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान-मंडली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उँगलियाँ चाटता था, कोई तिरछे नेत्रों देखता था कि लोग अभी खा रहे हैं या नहीं? कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं, किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चटकारता था, परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था। इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँची। कई आदमी चौंककर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—'अरे यह बुढ़िया कौन है! यह कहाँ से आ गई। देखो किसी को छू न दे।'

पंडित बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गए; पूड़ियों का थाल लिये खड़े थे। थाल को जमीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े आसामी को देखते ही झपट कर उसका टेंटुआ पकड़ लेता है उसी तरह लपक कर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अँधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशा रूपी वाटिका लू के एक ही झोंके से नष्ट-विनष्ट हो गई।

मेहमानों ने भोजन किया। घर वालों ने भोजन किया। बाजे वाले, धोबी, चमार भी भोजन कर चुके, परन्तु बूढ़ी काकी को किसी

नें न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उसकी निर्लज्जता के लिए दण्ड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता, पर, हत-ज्ञान पर किसी को करुणा नहीं आती थी। अकेली लाडली उसके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गंध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठकर रह गया। वह झुँझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते ? क्या मेहमान सब-की-सब खा जायँगे ? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा ? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी; परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खाई थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रखी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी। पूड़ियाँ देखकर कैसी प्रसन्न होंगी। मुझे खूब प्यार करेंगी !

रात को ग्यारह बज गए। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाडली की आँखों में नींद नहीं आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्मा सो रही हैं; तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूं। चारों ओर अंधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी। और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गई। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान् भी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ उनकी गदा सब स्पष्ट दिखाई दे रही थी। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं, इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाडली को ढाढ़स हुआ। कई

सोये हुए मनुष्यों के बदले एक जागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिकतर धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठाई और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चली।

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़कर घसीटे, ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाये लिये जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराये तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटका, वे मूर्छित हो गईं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की भी ज़रा भी आहट न मिलती थी। समझा कि सब लोग खा-पीकर सो गए और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गई।

क्या मेरा ही पेट काटने से धन जुट जायगा? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढ़िया कब मर जाय? उसका जी क्यों दुखायें? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ? इस पर यह हाल! मैं अंधी अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूं न बूझूं, यदि आँगन में चली गई तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी अभी लोग खा रहे हैं, फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दीं। उन्हीं पूड़ियों के लिए इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दीं तब अब क्या देंगी?

यह विचारकर काकी निराशामय संतोष के साथ लेट गई। ग्लानि से गला भर-भर आता था। परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज़ आई—"काकी उठो, मैं पूड़ियाँ लाई हूँ।"

काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठी। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया।

लाडली ने पूड़ियाँ निकालकर दीं। काकी ने पूछा––"क्या तुम्हारी अम्मा ने दी हैं!" लाडली ने कहा–"नहीं यह मेरे हिस्से की हैं।" काकी पूड़ियों पर टूट पड़ी। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गई।

लाडली ने पूछा––"काकी पेट भर गया!" जैसे थोड़ी-सी वर्षा ठंडक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है उसी भाँति इन थोड़ी-सी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा को और भी उत्तेजित कर दिया था। बोली––"नहीं बेटी, जाकर अम्मा से और माँग लाओ!" लाडली ने कहा––"अम्मा सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।"

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकालकर वे खा गई। बार-बार ओंठ चाटती थीं। चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियाँ कैसे पाऊँ (संतोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का वहाव अपरिमित हो जाता है) मतवालों को मद का स्मरण कराना उन्हें मदान्ध बनाना है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रवल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं––"मेरा हाथ पकड़कर वहाँ तो चलो जहाँ मेहमानों ने बैठकर भोजन किया है।"

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसनें काकी का हाथ पकड़ा और ले जाकर जूठे पत्तलों के पास बिठला दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुनकर भक्षण करने लगी। ओह! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौरियां कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धि-हीन होते हुए भी

इतना जानती थी कि मैं वह काम कर रही हूँ जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा-रोग का अन्तिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठ बैठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठाकर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती है वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों की जूठी पत्तल टटोले, उससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। यह वह दृश्य था जिसे देख कर देखने वालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता मानो जमीन रुक गई, आसमान चक्कर खा रहा है, संसार पर कोई नई विपत्ति आने वाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आईं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन-मंडल की ओर हाथ उठाकर कहा—"परमात्मा मेरे बच्चों पर दया करो, इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो हमारा सत्यानाश हो जायगा।"

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न दीख पड़ा था। वह सोचने लगी—हाय! कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति! और मेरे कारण, हे दयामय भगवान्! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक

था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया, मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिए, परन्तु जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाये उसे इस उत्सव में भरपेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो कि वह वृद्धा है, असहाय है।'

रूपा ने दिया जलाया, अपने भंडार का द्वार खोला और एक थाली में सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजाकर लिये हुए काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी। आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परन्तु उनमें किसी को वह परमानन्द प्राप्त न हो सकता था जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देखकर प्राप्त हुआ। रूपा ने कंठावरुद्ध स्वर में कहा—"काकी उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसका बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दें।"

भोले-भोले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाता है, बूढ़ी काकी बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक-एक रोयें से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लूटने में निमग्न थी।



श्री गिरिजाकुमार घोष

श्रीयुत गिरिजाकुमार घोष एक बंगाली सज्जन थे। आप चिरकाल तक इंडियन प्रेस प्रयाग, के प्रबन्धकर्ता रहे। हिन्दी साहित्य से आपको बहुत प्यार था। पहले-पहल आपने बँगला के ढंग पर हिन्दी में कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ की थीं, हिन्दी के पहले कहानी-लेखक आप ही माने जाते हैं। घोष बाबू ने हिन्दी में कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'होमरगाथा', 'गल्प-लहरी', 'लाला-पार्वती' तथा 'नारी-रत्नमाला' प्रमुख हैं।

इनकी भाषा चलती और रोचक है। 'काठ का घोड़ा' आपकी श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। खून का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ होता है। सन्तान कितनी ही बुरी क्यों न हो, माता-पिता उसे छोड़ नहीं सकते। पैतृक स्नेह से खिंचा हुआ बूढ़ा समरवीरसिंह घोड़े के मालिक को पाने के लिए कितना उत्कण्ठित है! घर से निकाले गये बेटे और बहू के दुःख का ध्यान करके, और उनके वियोग में, न जाने उसने कितने दिन और रातें बेचैनी में काटी होंगी। ये सब मार्मिक बातें इस कहानी में अंकित हैं। पिता पुत्र, श्वसुर-वधू, पितामह-पौत्र के पुनर्मिलन का दृश्य भी बड़ा सुन्दर है।

काठ का घोड़ा

कभी आप लोग शंकरनगर गये होंगे तो वहां आपने रत्नबाज़ार त्रिपोलिया की नुक्कड़ पर कबाड़ियों की दूकानें ज़रूर देखी होंगी। उन दूकानों पर पुराने असबाव—मेज़, कुर्सी, तख्त, चारपाई आदि से लेकर पुरानी तसवीर, फटे वस्त्र और कैंची, चाकू, ताला, कुंजी तक छोटी-वड़ी प्राय: सभी प्रकार की गृहस्थी की पुरानी सामग्रियाँ विका करती हैं। कबाड़ी लोग नगर भर में घूम-घामकर पुरानी वस्तुएँ मोल ले आते हैं और उन्हीं को फिर मरम्मत कर करा के वेचा करते हैं। हजारों मनुष्य ऐसे हैं, जो इन पुरानी वस्तुओं को मोल लेकर अपना काम चलाया करते हैं। ऊपर कहे हुए एक कबाड़ी की दुकान के सामने वहुत दिनों से एक काठ का घोड़ा खड़ा हुआ धूल छान रहा था। घोड़ा वालकों की सवारी के योग्य वना था और विशेषता उसमें यह थी कि उसके पैरों में धनुष की भाँति दो टेढ़ी लकड़ियाँ लगी हुई थीं, जिनके कारण कुर्सी पर बैठने वाला बालक अपना शरीर हिल-हिलाकर घोड़े पर चढ़ने का आनन्द अनायास पा सकता था! वैठने वाला गिर न पड़े इसीलिए पीठ पर एक कठहरा भी लगा हुआ था। एक दिन कबाड़ी उस घोड़े पर जमी हुई धूल को झाड़कर, उसे धोकर दूसरी जगह दुकान के सामने रख रहा था, जिस से राह चलने वालों की दृष्टि उस पर अनायास पड़ सके कि इतने में उसके पड़ोसी दुकान वाले ने कहा—

"क्यों मियाँ जुम्मन शेख! इस घोड़े को तो वहुत दिनों से धरे हुए हो, कोई लेता ही नहीं। मुझे न दे डालो! मैं इसे अपने लड़के को दे दूंगा।"

जुम्मन शेख ने उस पड़ोसी से कहा— "वाह ! खूब कही ! ग्राहक और मौत का भी कहीं कुछ ठिकाना है ? न जाने कब आ जाय। कमानीदार घोड़े की कदर भला सब लोग थोड़े ही कर सकते हैं।"

जब वे दोनों इस भांति आपस में बातें कर रहे थे, ठीक उसी समय एक भद्र पुरुष–जिनकी अवस्था ६०–६५ वर्ष से कम न होगी और जो वहां से हाथ में छड़ी लेकर कहीं जा रहे थे—जुम्मन की बात कान में पड़ते ही खड़े हो गये और पूछने लगे—"कमानीदार घोड़ा कैसा ? देखें कहां है ? देखें, देखें। अरे, इसके माथे पर यहां दो तलवारें कैसी बनी हैं ? हैं ! हैं ! कुछ समझ में नहीं आता !"

यों कहकर वे बड़े ध्यान से फिर घोड़े के माथे पर एक दूसरे को काटती हुई दो तलवारों के चित्र को और उसकी अद्भुत बनावट को देखनें लगे । फिर बोले— "यह घोड़ा तुमको कब और कहां से मिला ?"

कबाड़ी ने कहा—"महाराज ! आज ५–६ महीनें हुए होंगे, यह मुझे पान की मंडी के एक मकान में मिला था। यह एक छोटे-से लड़के का था। जब उसके बाप ने इसे बेच डाला तब बेचारा लड़का ज़मीन पर लोट पोट कर रोने लगा।"

भद्रपुरुष ने कहा— 'हूँ। छोटे लड़के का ! और वह रोनें लगा ! अच्छा, तुम इसे कितने में बेचोगे ?"

जुम्मन ने कहा—"महाराज ! चार रुपये से एक कौड़ी कम न लूंगा। देखियें बड़ा मजबूत है। रंग जरा भी फीका नहीं पड़ा।"

भद्र पुरुष ने कहा—"चार रुपये ! अच्छा, मुंह–मांगा ही देता हूँ। पर एक मजदूर मेरे साथ कर दो और उसे उसी मकान का पता बता दो, जहां से तुम इस घोड़े को लाये थे।" यों कहकर उन्होंने

रुपये निकालकर कबाड़ी को दे दिये। कबाड़ी ने दूकान के भीतर से एक लड़के को बुलाकर कहा—

"अरे! देख, पान की मंडी में रामचन्द्र तिवारी की बैठक तो तुझे मालूम है न? उसी के पिछवाड़े तीन खिड़कियों वाला पीले रंग का एक छोटा-सा मकान है। वहीं सरकार के साथ इस घोड़े को पहुँचा आ।"

लड़का पता समझकर घोड़े को अपने सिर पर सवार करा कर चलता हुआ। भद्र पुरुष भी उसके पीछे हो लिये।

उनके चले जाने के पीछे जुम्मन के पड़ोसी ने कहा—"यार! मेरे माँगते ही तेरा घोड़ा बिक गया। पर तूने अपने गाहक को भी पहचाना! ये विजयपुर के ज़मीदार समरवीरसिंह हैं। इनके बराबर दौलत वाला इस ज़िले भर में दूसरा कोई नहीं है। पर बेचारे के कोई लड़का नहीं है।"

जिस समय दूकानवाले इस भाँति आपस में बातें कर रहे थे, उस समय समरवीरसिंह घोड़ा लेकर पान की मण्डी में बतलाये हुए छोटे मकान की ओर चले जा रहे थे। जब वहाँ पहुँच गये, और लड़के ने कहा—"यही मकान है"—वृद्ध ने मकान के किवाड़ों को अपनी छड़ी से खटखटाया, जिसे सुनकर एक सुन्दरी युवती गोद में एक बालक को लिये भीतर से निकल कर वृद्ध की ओर देखने लगी। वृद्ध ने देखा, यह है तो बहुत निर्धन; किन्तु इसका शील-स्वभाव भले घर की बहू-बेटियों का सा जान पड़ता है। पूछा—"देखो तो सही यह घोड़ा तुम्हारा ही है न?"

युवती घोड़ा देखकर चौंक-सी पड़ी, और आँखों में आँसू भर जाने से थोड़ी देर तक कुछ बोल न सकी। इतने में उसके पीछे से एक चार वर्ष का सुन्दर बालक दौड़कर बाहर निकल आया और बोला—

"अजी, यह मेरा घोड़ा है, मैं तो इस पर बैठकर घुड़-दौड़ किया करता था। लाओ, मुझे दे दो।"

बालक की माता उसे रोकने लगी, परन्तु वृद्ध ने उसे रोक कर कहा—"मैंने इसे देखते ही समझ लिया था कि इसके बिना कोई बालक बहुत दुःख पा रहा होगा। लो भाई! तुम अपना घोड़ा ले लो। और बेटी, तुम घबराओ मत। मुझे तुम अपना ही कोई समझ लो। मैं यहाँ का रहने वाला नहीं हूँ। आज बाजार में घूमने को निकला था। राह में इस घोड़े को देखते ही जी में आया कि इसका मालिक कोई बालक है। वह इसे खोकर ज़रूर रो रहा होगा। सो मैं पता लगाता हुआ इसे तुम्हारे पास ले आया हूँ।"

स्त्री ने आँसू पोंछकर बड़े विनय से कहा—"आप बड़े दयालु हैं। बालक से आपको बड़ा प्रेम जान पड़ता है। रन्नू को सचमुच इसे खोकर बड़ा भारी दुःख था। मैं किस तरह आपकी इस दया का बदला दूं? ईश्वर आपका भला करे!"

बूढ़े ने कहा—"दया का बदला पीछे दे देना। अब दया करके मुझे थोड़ी देर अपने यहाँ बैठने दो। मैं बूढ़ा आदमी बहुत दूर पैदल चलकर थक गया हूँ।"

इस बात को सुनकर वह स्त्री कुछ सोचने लगी, फिर बोली—"आइये, मेरे पति घर में नहीं हैं, पर आप मेरे पिता के बराबर हैं। आइये यहाँ बैठ जाइए।" यों कह कर उसने एक टूटी-सी चारपाई बिछा दी और पंखा हाथ में लेकर वृद्ध के शरीर पर झलने लगी।

वृद्ध ने पूछा—"तुम्हारे पति कुछ काम करते हैं?"

स्त्री उदास होकर बोली—"नहीं, आज कितने दिनों से कहीं नौकरी-चाकरी कुछ भी नहीं है। यदि नौकरी होती, तो रन्नू के घोड़े तक बेचने की बारी क्यों आती? घर में बेचने लायक जो कुछ

था, सब बेच कर पेट मे धर लिया है। अब देखें, भगवान की क्या मर्ज़ी है !"

वृद्ध ने कहा—"हाँ, तुम लोगों को बहुत दुःख मिल चुके हैं। पर कौन जाने, नारायण अब चाहे तो भला ही करेगा। घबराओ मत। सब दिन एक-से नहीं जाते। जब बहुत ही बुरे दिन आ जाते हैं, तब वे फिर अच्छे होने लगते हैं। इसी तरह समय पलटा खाया करता है।"

स्त्री ने कुछ थकावट का भाव दिखाकर कहा—"हाँ ?"

वृद्ध ने पूछा—"तुम्हारे मित्र या अपने और लोग भी तो होंगे ?"

स्त्री ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं। मेरे मायके में तो कोई भी नहीं है। एक मेरी माँ थी वह भी मेरे ब्याह के पीछे चल बसी। मेरे ससुराल वाले बड़े आदमी हैं। पर उनसे और मेरे पति से लड़ाई है। मेरी माता पर दया करके, उसे राँड-दुखिया देखकर, मेरे पति ने किसी से बिना कहे-सुने मेरे साथ विवाह कर लिया था, इसी लिए मेरे ससुर उनसे नाराज़ हो गये और उन्होंने उनको घर से निकाल दिया। महाराज ! हम हैं तो बड़े ग़रीब, पर पहले इतने ग़रीब नहीं थे। मेरे पिता के स्वर्गवास होने से हमारे सिर बिजली आ गिरी। क्या करूँ, मेरे भाग में दुःख भोगना ही बदा था।"

बूढ़े ने कुछ काँपती हुई बोली से कहा—"हाँ, अब तक तो तुमने बहुत दुःख झेले हैं। तुम्हारे पति ने पिता की बात नहीं मानी थी; पर भला तुमने क्या अपराध किया है ? फिर तुम किसी नीच जाती की बेटी भी तो नहीं हो।"

स्त्री बोली—"आप बड़े सज्जन हैं। इसी से आप ऐसा कह रहे हैं। पर मेरे पति ने ही कौन-सी बुराई की थी ? अपने जातिवालों की लाज रखना और दीन-दुखियों पर दया करना, यही तो बड़ाई है।

निरे धन ही के रहने से कोई बड़ा आदमी नहीं कहाता। धन की शोभा दया ही से है न?––मैं आप से सच कहती हूँ, मेरे पति का कुछ भी दोष नहीं है। दोष है तो मेरे भाग्य का है। मेरे ही पीछे उनकी इतनी दुर्गति हो रही है।"

आँगन से बालक बोला––"खबरदार, बचे रहो!" इसे सुन कर भद्र पुरुष हँसने लगे। उनको उस समय कोई अच्छी तरह देखता तो जान जाता, ऐसी हँसी वृद्ध ने बहुत दिनों से नहीं हँसी थी। बालक हिल-हिलकर और दोनों हाथों को ऊपर उठाकर घुड़दौड़ का आनन्द ले रहा था। परन्तु वृद्ध के सूखे कलेजे पर भी उस पवित्र आनन्द के छींटे जा-जाकर पड़ रहे थे।

वृद्ध ने प्रेम में डूबकर पूछा––"इसका नाम क्या है?"

स्त्री बोली––"रणवीरसिंह। और यह बेटी है। इसका नाम सावित्री है।"

"तुम्हारे पति कब आवेंगे?"

"उनके आने का तो समय हो गया है। अब आते ही होंगे। किसी अपरिचित मनुष्य से आज तक मैं इतना नहीं बोली थी। पर क्या करूँ, घर में और कोई है नहीं, और आप ऐसे दयालु हैं, मैं आपको अपने पिता के समान समझती हूँ। मेरा अपराध क्षमा कीजिएगा।"

"नहीं, नहीं कुछ डर की बात नहीं है। तुम्हारे पति क्या काम करते हैं? हो सके तो मै उनके लिए कुछ.. ..."

"अजी, आप इतनी दया करें तो हमारे सब दुःख टल जावें।" यों कहकर वह भूमि पर माथा टेक कर वृद्ध को प्रणाम करने लगी। फिर बोली––"हम लोग जन्म भर आपके गुण मानेंगे। वे सब कामों में कुशल हैं। पहले कई दफ्तरों में नौकरी कर चुके हैं। अच्छी

तनख्वाह भी पा चुके हैं । पर आजकल कई महीनों से हमारे दिन बहुत ही बुरे आए हैं । दिन भर उनको घूमते ही हो जाता है; पर कहीं कुछ ठिकाना नहीं लगता । देखिए, विवाह के पहले उन्होंने कभी मेहनत नहीं की थी । न वे समझते थे कि पेट पालने के लिए इतना दुःख झेलना पड़ेगा । पर अब......"

"और उसे बुड्ढे राक्षस ने अपने इकलौते बेटे को और ऐसी लक्ष्मी-सी बहू को घर से निकाल कर कभी तुम लोगों का नाम तक नहीं लिया ! वह दोनों बेर ठूंस-ठूंस कर षड्रस भोजन करता है, और उसका बेटा एक टुकड़े रोटी के लिए दफ़्तर-दफ़्तर भीख माँगता फिरता है !"

"दोष किसी का भी कुछ नहीं । सब मेरे ही खोटे भाग्य का फल है । बीस रुपये महीने की भी कोई नौकरी उनको मिल जाती तो..."

"बीस रुपये महीने की ?"

"जी हाँ, बीस को मैं बीस लाख समझती हूँ । मेरे पिता को दो सौ रुपये महीने मिला करते थे । हम आठ भाई बहिन थे । वे सब के सब सुख से चले गये, अकेली मैं इतना दुखड़ा भोगने के लिए बच गई हूँ ।"

ये दोनों इस भाँति बातचीत कर रहे थे कि इतने में बाहर से किवाड़ खटखटाने का शब्द सुनाई पड़ा । "मेरे पति आ गये," कहकर वह स्त्री किवाड़ खोलने गई । उसने अपने पति से वृद्ध भद्र पुरुष के आने की बात कही, परन्तु उस दिन उसका पति अपने दुःख में इतना डूबा हुआ था कि अपनी स्त्री की बात अनसुनी करके वह फूट फूट कर रोने लगा और वहीं बाहर पौरी में धरती पर गिरकर रो-रो कर कहने लगा—"हे भगवन् ! तेरे जी में अभी और क्या है ? अरी, तीन महीने का किराया चढ़ गया है । आज देखो, मकान वाले ने

अपने वकील से मकान छोड़ देने के लिए नोटिस भिजवाया है। हाय ! अब मेरे बच्चे गली-गली भीख माँगते फिरेंगे।'' उसके मन का आवेग इतना बढ़ गया था कि घर में आये हुए एक अपरिचित मनुष्य की ओर उसकी दृष्टि ही न गई। अपने ही दुःख की तरंगों में वह डुबकियाँ मारने लगा। परन्तु अवसर पाते ही स्त्री ने उसको ढाढ़स दिलाकर कहा—''रोते क्यों हो ? देखो घर में कौन आये हुए हैं ! आपने तुम्हारी नौकरी लगा देने की हामी भरी है, उठकर उनसे तो बातें करो।''

स्त्री की बातें सुनकर उसका पति उठकर भीतर चला, तो देखा कि एक वृद्ध मनुष्य रूमाल से अपनी आँखें पोंछ रहा है। उसे देखते ही वह युवा बोल उठा—''ऐं ! बाबू जी !''

घुड़सवार लड़का चिल्ला कर बोला—''बाबू जी, हट जाओ, बचे रहो।''

वृद्ध भद्र पुरुष ने सिर उठाकर कह—''संग्रामवीरसिंह ! बेटा !''

संग्रामवीरसिंह दौड़कर वृद्ध के चरणों से लिपट गया। उसकी स्त्री ससुर को देखकर अपने शरीर को वस्त्र से भली-भाँति ढकने और सटपटाने लगी। बालक चिल्लाने लगा—''खबरदार ! सामने से हट जाओ।'' बालिका सावित्री बेचारी क्या करती ? वह अपने नन्हें-नन्हें ओठों को फुलाकर माता के सिर के केश नोचने लगी।

जब थोड़ी देर पीछे सब लोग शांत हुए, वृद्ध ने एक लंबी साँस भर कर कहा—''रणवीर के इस जंगी घोड़े ही ने फिर तुमसे मुझको मिला दिया है। तुम जानते हो, इसी तरह का एक घोड़ा मैंने तुम्हारे चढ़ने के लिए लड़कपन में बनवा दिया था और उसके माथे पर भी ठीक उसी तरह की दो तलवारें बनी हुई थीं। उसे देख-देखकर कभी-कभी मैं तुम्हारी बात सोचा करता था। इस घोड़े की बनावट

उस घोड़े से मिलती जुलती देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ, क्योंकि इस नमूने का घोड़ा बाज़ार में मिलना कठिन है। पर जब माथे पर तलवारें ठीक उसी तरह एक दूसरी पर चढ़ी हुई दीख पड़ीं, तब तो मैंने जान लिया कि हो न हो इससे तुम्हारा कुछ सम्बन्ध अवश्य होगा। सो भगवान् की दया से मेरा अनुमान ठीक ही निकला। अच्छा बेटा, उस समय क्रोध में आकर मैंने जो कुछ कह डाला तो क्या उसी बात पर अड़े रहकर और इतना दुःख झेल कर तुमने कुछ अच्छा किया? भला, इतने दिन हो गए तुमने खबर तक न ली कि बुड्ढा है कि मर गया।''

अस्तु, पिता-पुत्र में अकस्मात् फिर इस भाँति मेल हो गया तब वृद्ध ने अपनी पुत्र-वधू को लजाती हुई देखकर कहा--''बेटी, मुझे देखकर इतनी लाज करने का कुछ प्रयोजन नहीं है। एक बार अपने बहादुर रणवीरसिंह को तो ले आओ, उससे परिचय हो जाना चाहिए।''

रणवीरसिंह बहुत देर तक रण-यात्रा कर चुका था। माता के बुलाते ही दौड़ आया। उसने सबेरे से अब तक कुछ भी नहीं खाया था। इस लिए सोचा, माता कुछ खाने को देगी। परन्तु जब वृद्ध ने उसके दोनों हाथों को पकड़ लिया, तब वह बड़े आग्रह से उसके मुख पर दृष्टि अड़ाकर देखता रहा, और फिर बोला--''मेरा घोड़ा छीन कर तो नहीं ले जाओगे?''

वृद्ध ने हँसकर कहा--''नहीं जी, नहीं। इसी तरह का एक और घोड़ा - इसी का बाप—मेरे घर पर है। वहाँ चलोगे तो वह भी तुम्हारा ही हो जावेगा।''

रन्नू ने पूछा--''क्या वह तुम्हारा घोड़ा है? तुम उस पर चढ़ा करते हो?''

वृद्ध ने फिर हँस कर कहा—"मैं तो नहीं, पर तुम्हारे बाबू जी जब तुम्हारे बराबर थे, तब वे उसकी पीठ पर चढ़ा करते थे।"

रन्नू ने घूमकर अपने पिता की ओर देखा। वह सोचने लगा, मैंने तो कभी बाबू जी को आज तक छोटा-सा नहीं देखा। उसे अपने पितामह की बातों पर विश्वास न हुआ।

तब समरवीरसिंह ने अपनी पतोहू से पूछा—"बेटी, अपना सब असबाब बाँधने-छाँटने में तुम को कितनी देर लगेगी?"

उनकी पुत्र-वधू ने कुछ अचरज से कहा—"असबाब बाँधने में?"

"हाँ, अब यहाँ से जितनी जल्दी हो सके चल देना चाहिए, विजयपुर के मकान में आज १८ वर्ष से कोई गृहलक्ष्मी नहीं है। वहाँ चलकर सब बात सँवारते-धरते कुछ दिनों तक तनिक भी छुट्टी नहीं मिलेगी। मैं सोच रहा हूँ कि इतने दिनों में मेरे गृह में फिर लक्ष्मी की मूर्ति आकर विराजेगी।

पतोहू सुनकर सकुचकर चुप हो रही। फिर बोली—"यहाँ है ही क्या? सब तो पेट में भर लिया है। दो-चार थाली लोटे और फटे पुराने कपड़े रह गए हैं, कहिए इनको ले चलूं।"

निदान दूसरे दिन सबेरे ही द्वार पर एक गाड़ी आकर लगी। समरवीरसिंह अपने पुत्र और पौत्रादिक को लेकर गाड़ी में जा बैठे। परन्तु रन्नू ने गाड़ी के भीतर अपने घोड़े को अपने साथ रखवाने के लिए बहुत ऊधम मचाया। उसके पिता ने उसे बहुत समझाया बुझाया, तब उसका घोड़ा गाड़ी की छत पर चढ़कर चलने लगा। राह में जहाँ कहीं गाड़ी पल भर के लिए भी रुकती, वह गाड़ी में से निकल कर घोड़े का कुशल-समाचार आप जाकर ले आता।

विजयपुर का मकान बहुत बड़ा था। वहाँ पहुँचकर रन्नू को बड़ा

अनकुस लगने लगा। परन्तु जब तक पचीस वर्ष के गर्द से लदा हुआ घोड़े का बाप किसी पुराने गोदाम में से निकाला जाकर उसके सामने न लाया गया, उसने अपने दादा का नाकों दम कर दिया।

वह थोड़ी देर तक बड़े ध्यान से उस घोड़े को देखता रहा। फिर अपने घोड़े की पीठ ठोंककर बोला—"मेरा घोड़ा ही अच्छा है। इसके बाप को मैं नहीं लेता।"

वृद्ध ने कहा—"ठीक है रणवीर जी! अपने पुराने मित्रों को कभी न छोड़ना।"

विजयपुर का बड़ा भवन तब से फिर कभी सूना नहीं रहा है। वहाँ की गृहलक्ष्मी के दिन जिस तरह से फिरे हैं, ऐ प्यारी लक्ष्मियो! तुम्हारे दिन भी उसी तरह फिरें।

पं० विश्वंभरनाथ शर्मा "कौशिक"

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का जन्म सन् १८६१ में अम्बाला छावनी में हुआ। आप चार वर्ष की अवस्था में कानपुर चले गये और जीवन-भर वहीं रहे। साहित्य, संगीत, चित्रकला, आदि से आपको विशेष प्रेम था। रंगमंच का भी आपको काफी अनुभव था। 'चित्रशाला' (दो भाग), 'मणिमाला' और 'कल्लोल' नाम के तीन कहानी-संग्रह आपके प्रकाशित हैं। 'माँ' तथा 'भिखारिणी' नाम के उपन्यास भी बहुत प्रसिद्ध हैं। 'चाँद' में प्रकाशित आपकी 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' हास्य रस की सुन्दर कृतियाँ हैं। आपका स्वर्गवास सन् १९४५ में हो गया।

कौशिक जी की कहानियों में प्रायः पारिवारिक जीवन अथवा सामाजिक कुरीतियों का वर्णन मिलता है। ये कहानियाँ यथार्थ-वादी भी हैं, आदर्शवादी भी। चरित्र-चित्रण इनकी एक विशेषता है। प्रस्तुत कहानी में आपने गोपाल शर्मा के चरित्र का विकास कितना स्पष्ट करके दिखाया है। यह कहानी मनोरंजक भी है और शिक्षाप्रद भी। इसकी शैली सरल और स्वाभाविक है। कथा का विकास कथोपकथन द्वारा होता है। कथानक इस प्रकार है—गोपाल शर्मा (लेखक) और एक पत्र के सम्पादक जी गाड़ी में मिल गये। गोपाल शर्मा बेकार थे, सम्पादक जी ने अनुग्रह करके उन्हें अपना सहायक नियुक्त कर दिया। गोपाल शर्मा के लेखों की धूम मचने लगी। पत्र के मालिक ने चाहा कि गोपाल शर्मा ही को प्रधान सम्पादक बना दिया जाये। सम्पादक जी को नोटिस मिल

गया। गोपाल शर्मा ने अपने पर किये गये सम्पादक जी के उप-कार का बदला चुकाया। उन्होंने मालिक को स्तीफ़ा दे दिया कि यदि सम्पादक जी को हटाया जायगा तो मैं भी न रहूँगा। मालिक मजबूर हो गया और नोटिस वापस ले लिया।



कृतज्ञता

(१)

ट्रेन के स्टेशन पर रुकते ही इंटर क्लास के एक छोटे से कम्पार्टमेंट का द्वार खुला और एक युवक हाथ में हेंडबेग लिए हुए अन्दर आया। कम्पार्टमेंट में एक अधेड़ सज्जन पहले ही से बैठे हुए थे। युवक उनके सामने वाले बर्थ पर बैठ गया।

कुछ देर तक दोनों चुपचाप बैठे रहे। गाड़ी ने स्टेशन छोड़ दिया था और अपनी पूरी तेज़ी के साथ चली जा रही थी। हठात् अधेड़ सज्जन ने युवक से पूछा—"आप कहाँ जायेंगे? युवक ने उत्तर दिया—"आगरा।" युवक कुछ क्षण तक अधेड़ व्यक्ति को ध्यान-पूर्वक देखता रहा; इसके पश्चात् उसने कहा—"और आप?"

"मै तो देहली जा रहा हूँ।"

दोनों फिर मौन हो गये। कुछ क्षण के पश्चात् अधेड़ व्यक्ति ने पूछा—"आप आगरे में रहते हैं?"

"जी नहीं, आगरे में तो नहीं रहता?"

"कहाँ रहते हैं।"

युवक ने संयुक्त-प्रान्त के एक प्रसिद्ध नगर का नाम बताया।

"आगरे किसी काम से जा रहे हैं?"

युवक को अधेड़ व्यक्ति की यह बेतकल्लुफ़ी कुछ बुरी मालूम हुई, परन्तु उसने शिष्टाचार के नाते अपनी इस भावना को दबा कर किञ्चित् मुस्कराते हुए कहा—"हाँ, एक कार्य से जा रहा हूँ।"

युवक ने सोचा जब यह व्यक्ति मेरा परिचय जानने के लिए इतना उत्सुक है तब मैं भी पता लगाऊँ कि यह कौन है । यह सोच कर उसने पूछा—"आपका मकान कहाँ है ?"

"मेरा मकान तो इधर मध्य-प्रदेश की ओर है, परन्तु मैं आजकल......में रहता हूँ ।"

"वहाँ आप क्या करते हैं ?"

"वहाँ मै एक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करता हूँ ।"

युवक चौंक पड़ा । उसने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"आपका नाम शम्भुनाथ है ?"

"जी हाँ !" अधेड़ व्यक्ति ने गम्भीर होकर उत्तर दिया ।

युवक मुस्करा कर बोला—"ओ हो ! तब तो आप के खूब दर्शन हुए ! आप तो बड़े प्रसिद्ध आदमी हैं ।" अधेड़ व्यक्ति ने मुस्करा कर सिर झुका लिया कोई उत्तर न दिया ।

युवक ने कहा—"मैं भी आप लोगों का एक तुच्छ सेवक हूँ । मेरा नाम गोपाल शर्मा है ।"

अधेड़ व्यक्ति ने भृकुटी सिकोड़ कर कहा—"गोपाल शर्मा ! क्या आप लेखक हैं ?"

"जी, लेखक तो क्या, मातृभाषा हिन्दी का एक अकिंचन सेवक हूँ ।"

"नहीं, आप बहुत अच्छा लिखते हैं । मैं बहुधा आप के लेख पत्रों में देखा करता हूँ ।"

युवक ने दाँत निकाल कर सिर झुका लिया । सम्पादक जी ने पुनः प्रश्न किया—"और आप क्या करते हैं ?"

"आजकल तो बेकार हूँ—आगरे अपने मामा के यहाँ जा रहा

हूँ । उन्होंने लिखा था कि वहाँ किसी आफ़िस में एक स्थान खाली है, उसी के लिये जा रहा हूँ ।"

"अच्छा ! आप आजकल बेकार हैं ?"

"जी हाँ ।"

"तो आप हमारे यहाँ क्यों नहीं चले आते ? हमारे कार्यालय में एक सहकारी सम्पादक की आवश्यकता है । मैं समझता हूँ कि आफ़िस की नौकरी से यह कार्य आपकी रुचि के अनुकूल होगा ।"

युवक प्रसन्नमुख होकर बोला—"निस्संदेह यदि ऐसा हो तो अत्युत्तम है । आफ़िस की नौकरी तो मैंने मजबूरी की हालत में स्वीकार की थी ।"

"तो अब उसका विचार त्याग दीजिए । आप मेरे साथ चलिए, मैं आपको अपने यहाँ रख लूंगा ।"

युवक ने कृतज्ञतापूर्ण स्वर से कहा—"यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा कि आपकी सेवा में रहूँ, इससे मेरा ज्ञान तथा अनुभव बढ़ेगा ।"

सम्पादक जी ने कहा—"तो बस तय होगया । आप मेरे साथ चलिये ।"

"इस समय तो मैं न चल सकूंगा । मेरा टिकट आगरे का है—वहाँ मामा जी भी प्रतीक्षा करते होंगे । मैं आगरा होकर आप के पास आऊँगा ।

"आगरे में आप को कितने दिन लगेंगे ?"

"अधिक से अधिक दो तीन दिन ।"

"तो आप मेरे पास कब तक आवेंगे ?"

"आज के चौथे पाँचवें दिन आजाऊँगा ।"

"बस ठीक है । परन्तु अधिक समय न लगे, इसका ध्यान रखिएगा,

क्योंकि सहकारी सम्पादक की बहुत शीघ्र आवश्यकता है । यदि आप ने विलम्ब किया तो संभव है कोई दूसरा व्यक्ति आ जाय । यद्यपि सहकारी की नियुक्ति मेरे परामर्श और मेरी पसन्द के अनुसार होगी, तो भी यह सम्भव है कि पत्र के स्वामी किसी को अपनी इच्छा से रख लें; इसलिए आप जहाँ तक सम्भव हो शीघ्र पधारियेगा ।"

"बहुत अच्छा, मैं तीन-चार दिन में अवश्य आजाऊँगा ।"

"तो बस ठीक है ।"

दोनों चुप हो गये । थोड़ी देर पश्चात् सम्पादक जी ने पूछा—"आपने कभी पहले भी किसी पत्र . . .।"

सम्पादक जी की बात पूरी होने से पूर्व ही गोपाल शर्मा बोल उठे--"काम तो नहीं किया; परन्तु मैं कर सकता हूँ--इसका मुझे विश्वास है ।"

"हाँ हाँ, क्यों नहीं । एक बुद्धिमान और शिक्षित आदमी क्या नही कर सकता ।"

पुनः दोनों मौन हो गये । थोड़ी देर पश्चात् गोपाल शर्मा ने किञ्चित् सकुचाते हुए पूछा--"आप क्या वेतन के सम्बन्ध में कुछ बता सकते हैं ?"

"वेतन ? वेतन आपको, इस समय तो साठ रुपये मिलेंगे, परन्तु यदि आप का कार्य संतोषजनक हुआ, जिसकी मुझे पूर्ण आशा है, तो शीघ्र ही वेतन-वृद्धि हो जायगी ।"

"अच्छी बात है । यद्यपि वेतन कम है, तथापि कोई हर्ज नहीं । कार्य मेरी रुचि के अनुकूल है, इसलिए मुझे इतना ही स्वीकार है ।"

"मैं चेष्टा करूँगा कि कुछ अधिक दिलवाऊँ । आगे आपका भाग्य ।"

"कोई चिंता नहीं, फ़िलहाल मेरे लिए साठ ही रुपये यथेष्ट हैं ।"

इसके उपरान्त दोनों साहित्य-चर्चा करते रहे। दो घंटे पश्चात् टुंडला स्टेशन आया। गोपाल शर्मा ने कहा—"अच्छा मैं तो अब यहाँ आपसे विदा होता हूँ। ईश्वर ने चाहा तो आज के चौथे दिन आप के दर्शन करूँगा।"

(२)

गोपाल शर्मा को उक्त साप्ताहिक पत्र में कार्य करते हुए छः मास हो चुके हैं। छः मास में ही पत्र के स्वामी ने उनकी योग्यता और कार्य-कुशलता पर मुग्ध होकर उनका वेतन सौ रुपये मासिक कर दिया। गोपाल शर्मा जब कभी मुख्य लेख और टिप्पणियाँ लिखते थे तब उनकी बड़ी प्रशंसा होती थी और साथ ही पत्र की ग्राहक-संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी।

एक दिन प्रधान सम्पादक के एक मित्र उनसे मिलने आये। उन्होंने बैठते ही कहा—"आजकल तो बड़े ज़ोर के मुख्य लेख निकल रहे हैं।"

सम्पादक जी ने मित्र की बात पर ध्यान न देकर पूछा—"तुम कब आये?"

"कल आया था।"

"और सब कुशल-मंगल?"

"और सब प्रकार आनन्द है।"

"और कोई विशेष बात?"

"कोई नहीं। पिछले सप्ताह में जो मुख्य लेख निकला था वह बड़े ज़ोर का था।"

इसी समय गोपाल शर्मा आ गये। शर्मा जी को देखते ही सम्पादक जी के मुख पर एक क्षण के लिए अप्रसन्नता का भाव प्रस्फुटित हुआ, परन्तु उन्होंने शीघ्रता-पूर्वक उक्त भाव को दबाकर किञ्चित् मुस्कराते हुए कहा—"वह लेख हमारे सहकारी शर्मा जी का लिखा हुआ था।"

यह कह कर सम्पादक जी ने शर्मा जी की ओर संकेत किया। मित्र ने शर्मा जी को सिर से पैर तक देख कर कहा--"अच्छा! आप भी खूब लिखते हैं। मुझे वह लेख बहुत पसन्द आया—और मुझे ही क्या जिस जिसने पढ़ा उसने पसन्द किया।"

सम्पादक जी के लिए यह प्रसंग अरुचिकर था। अतएव उन्होंने प्रसंग बदलने के लिए कहा--"इस बार कांग्रेस जाओगे?"

"ठीक नहीं कह सकता--चेष्टा करूंगा। शर्माजी, आप का शुभ नाम क्या है?"

"मेरा नाम गोपाल शर्मा है।"

"गोपाल शर्मा! यह नाम तो मैंने कहीं देखा है।"

"मैं बहुधा पत्रों में लेख लिखा करता हूँ।"

"हाँ हाँ, किसी पत्र ही में देखा था।"

कुछ क्षण सब लोग मौन बैठे रहे। हठात् सम्पादक के मित्र महोदय पुनः बोले—शर्माजी, क्या वह आपका प्रथम मुख्य लेख था?

शर्मा जी के बोलने के पूर्व ही सम्पादक जी ने मित्र से कहा—अरे यार, सारी उम्र में एक काम तुमको बताया वह भी तुम्हारे किये न हुआ।

"कौन सा काम?"

"याद करो।"

"होगा भी, मुझे याद-वाद नहीं है।"

"हाँ, शर्माजी—।"

सम्पादक जी बोले--शर्म्माजी की खोपड़ी न खाओ, मुझ से बातें करो।

सम्पादकजी मित्र पर यह बात प्रकट नहीं होने देना चाहते थे कि

जितने अच्छे लेख निकले वे शर्मा जी के लिखे हुए थे। इसी कारण वे मित्र को अन्य बातों में लगाना चाहते थे। शर्म्माजी सम्पादक जी की इस बात को ताड़ गए। अतएव वे तुरन्त उठ खड़े हुए और हाथ जोड़ कर बोले--अच्छा अब आज्ञा दीजिये। कुछ काम करना है।"

मित्र ने नैराश्यपूर्ण स्वर में कहा--"अच्छी बात है, फिर किसी समय आप से बातचीत होगी।"

शर्म्मा जी चले गये। उनके जाने के पश्चात् मित्र ने सम्पादक जी से कहा--"ये आपको कहाँ मिल गये--अभी हाल ही में आये हैं ?"

'हाँ छः महीने के लगभग हुए।"

"अच्छा लिखते हैं।"

"हाँ, खासा लिखते हैं। यदि कुछ दिनों मेरे पास रह गये तो अच्छा लिखने लगेंगे। अभी तो मुझे इनके लेखों को बहुत सुधारना पड़ता है।"

"कुछ भी हो, लिखते अच्छा हैं।"

"अच्छा न लिखते होते तो यहाँ कैसे आते ? मेरा सहकारी कोई गड़बड़ आदमी थोड़े हो सकता है।"

"यही बात है। यदि साल दो साल आपके पास टिक गये तो अच्छे सम्पादक बन जायेंगे।"

"हाँ टिक जायँ तब है।"

"क्यों, क्या इसमें कुछ सन्देह है।"

"कुछ चञ्चल प्रकृति के आदमी हैं, इस कारण आशा कम है।"

"युवावस्था में मनुष्य की प्रकृति कुछ चञ्चल होती है।"

"सब की तो नहीं होती परन्तु अधिकांश की होती है।"

""अच्छा तो अब आज्ञा दें, फिर मिलूंगा।"

""अच्छी बात है।"

मित्र महोदय सम्पादक जी से विदा होकर पत्र के व्यवस्थापक के पास पहुँचे। वे ही पत्र के मालिक भी थे। व्यवस्थापक ने उन्हें देखकर मुस्कराते हुए कहा–"आइए पण्डितजी, कहिए सब आनन्द !"

पण्डितजी कुर्सी पर बैठते हुए बोले—"सब आपका अनुग्रह है। आप तो मज़े में हैं ?"

"हाँ, ईश्वर की दया है। कहिए, आज कैसे भूल पड़े ?"

"ऐसे ही मिलने चला आया। इधर आपके पत्र में चार-छः मुख्य लेख बड़े मार्के के निकले। मैंने सोचा, चलूं सम्पादकजी को और आपको उनके लिए बधाई दे आऊँ।"

व्यवस्थापकजी हँसते हुए बोले—"अच्छा यह बात है ! तो यदि आपको बधाई देनी हो तो सहकारी सम्पादक शर्माजी को बधाई दीजिए—वे सब लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं।"

"हाँ, इसका मुझे पता लग गया है। पहले मैंने समझा था कि सम्पादकजी के लिखे हुए हैं।"

व्यवस्थापकजी मुंह बना कर बोले–"सम्पादकजी भला क्या खाकर ऐसे लेख लिखेंगे ? वह बात ही कुछ और है। शर्माजी बड़े योग्य आदमी हैं।"

"हाँ साहब योग्य न होते तो ऐसी सजीव भाषा और इतने प्रौढ़ विचारों का समावेश कैसे करते।"

"मेरा तो विचार उन्हें शीघ्र ही मुख्य-सम्पादक बनाने का है।"

"अच्छा !"

"हाँ, जब से उनके लेख निकले तब से ग्राहक-संख्या बराबर बढ़ रही है। ऐसी दशा में उन्हें प्रधान सम्पादक न बनाना उनके प्रति अन्याय करना है।"

"और सम्पादकजी !"

"सम्पादकजी की इच्छा होगी तो सहकारी बन कर रहेंगे, अन्यथा चले जायँगे।"

"यह तो आप अन्याय करेंगे।"

"क्यों ?"

"इस लिए कि प्रधान सम्पादक का इसमें अपमान होगा।"

"इस भावुकता में क्या रखा है ? यह तो व्यापार है। जो अच्छा कार्य करेगा उसे प्रधानता दी जायगी।"

"हाँ, यह ठीक है। परन्तु वे भी कुछ गड़बड़ नहीं है। दूसरे उन्हें आपके यहाँ बहुत दिन हो गये।"

"गड़बड़ न हों, परन्तु शर्म्माजी को नहीं पा सकते। जब तक हमें उनसे अधिक योग्य आदमी नहीं मिला तब तक हमने उन्हें रखा। अब जब हमें अधिक योग्य आदमी मिल रहा है तब हम उसे क्यों न रक्खें ? यदि यह आशा होती कि वे उन्नति कर लेंगे तो भी एक बात थी, परन्तु वे जितनी उन्नति कर सकते थे उतनी कर चुके। अब वे उन्नति-सुन्नति कुछ नहीं कर सकते, वे जहाँ के तहाँ रहेंगे।"

"हाँ उन्नति तो अब वे क्या करेंगे, चालीस के ऊपर पहुँच चुके।"

"उनसे परिश्रम भी तो नहीं होता।"

"हाँ परिश्रम तो न होता होगा।"

"ऐसी परिस्थिति में जब मुझे एक अच्छा आदमी मिल रहा है तब मैं ऐसा अवसर क्यों छोड़ूँ।"

"हाँ, बात तो ठीक है, परन्तु......।"

"अरन्तु-परन्तु की इसमें गुंजायश नहीं। मेरा लक्ष्य तो पत्र की उन्नति करना है—जिसमें पत्र की उन्नति होगी वही मैं करूँगा, भावुकता में नहीं पड़ूँगा।"

(३)

शर्म्माजी के कमरे में एक उपसम्पादक तथा एक प्रूफ़रीडर महोदय बैठे थे। शर्म्मा जी अभी नहीं आये थे। उपसम्पादक तथा प्रूफ़-रीडर में बातचीत हो रही थी। उपसम्पादक कह रहा था—"बस अब महीने दो महीने में शर्म्मा जी प्रधान सम्पादक बनाये जाने वाले हैं।"

प्रूफ़रीडर बोला—"ऐसा नहीं हो सकता।"

"देख लेना, ऐसा ही होगा।"

"सम्पादकजी में शर्म्माजी के बराबर योग्यता तो है नहीं।"

"अजी वे करते ही क्या हैं, खाली बातों का जमाखर्च करते हैं। तुम्हें मालूम न होगा। सम्पादकजी बाहर सब लोगों से यह कहते फिरते हैं कि वे लेख उनके लिखे हुए हैं।"

"अच्छा!"

"भगवान् जाने। मैं झूठ थोड़े ही कहता हूँ।"

"बड़े चलते हुए आदमी हैं।"

"परन्तु अब कन्नों से कटने में देर नहीं है।"

"तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

"मालूम हो गया।"

"व्यवस्थापकजी ने कहा होगा।"

"अजी वे भला अपना मंत्र काहे को देने लगे—एक ही घाघ आदमी है।"

"हाँ, है तो बड़ा चलता हुआ।"

"पक्का व्यापारी है।"

"यदि शर्म्माजी सम्पादक हो जायँ तो पत्र की उन्नति भी हो।"

"यही तो सारी बात है।"

इसी समय शर्म्माजी आ गये। शर्म्माजी को देखकर दोनों चुप हो गये और अपना अपना काम करने लगे। शर्म्माजी अपनी मेज़ के सामने बैठते हुए बोले—"क्या वार्तालाप हो रहा था ?"

उपसम्पादक ने कहा—"कुछ नहीं, आप के ही सम्बन्ध में बातचीत हो रही थी।"

"क्या बातचीत हो रही थी ?"

"यही कि यदि शर्म्मा जी मुख्य-सम्पादक हो जायँ तो बड़ा सुन्दर हो"

शर्म्मा जी किंचित् मुस्कराकर बोले—"अरे भाई, मैं इस योग्य कहाँ ? अभी तो मुझे बहुत कुछ सीखना है।"

"आपके मुख से यही शोभा देता है; परन्तु हमसे पूछिए तो हम तो स्पष्ट कहेंगे कि आप सम्पादक जी से कहीं अधिक उत्तम सम्पादन कर सकते हैं। सम्पादक जी को आता ही क्या है ? भाग्य के बली हैं इसलिए निभे चले जा रहे हैं"

शर्म्माजी हँसकर बोले—"अरे भाई, ऐसा मत कहो। सम्पादक जी बड़े योग्य हैं। मुझे वही सम्पादन-शिक्षा दे रहे हैं।"

"देते होंगे; परन्तु साथ ही यह बात भी है कि आप अभी उनको दस वर्ष पढ़ा सकते हैं।"

"शिव ! शिव ! ऐसी अनर्गल बात मत कहो—" शर्म्माजी ने गम्भीर होकर कहा।

"बात सच्ची है, आप चाहे रुष्ट भले ही हो जायँ।"

ठीक इसी समय चपरासी नें आकर शर्म्मा जी से कहा कि आपको सम्पादक जी बुला रहे हैं।

शर्म्माजी सम्पादकजी के पास पहुँचे।

सम्पादकजी ने कुर्सी की ओर संकेत करके कहा--बैठिए। आप-से कुछ आवश्यक बातें करनी हैं। (चपरासी से) देखो अन्दर किसी को मत आने देना।

"बहुत अच्छा" कह कर चपरासी चला गया। सम्पादक जी ने कहा—"शर्म्माजी, यह तो आप जानते ही हैं कि यहाँ मैंने ही आपको बुलाया था।"

"जी हाँ।"

"ट्रेनवाली बात याद है न ?"

"याद क्यों नहीं है, उसे क्या मैं कभी भूल भी सकता हूँ।"

"सज्जनता के अर्थ यही हैं। अच्छा तो अब बात यह है कि मेरे कुछ शत्रु मेरे विरुद्ध मालिकों को भड़का रहे हैं। आप जानिए, जो आदमी किसी ऊँचे पद पर होता है उसके अनेक शत्रु हो जाते हैं।"

"हाँ, यह बात ठीक है।"

"मेरे भी कुछ शत्रु उत्पन्न हो गये हैं और मुझे यहाँ से उखाड़ना चाहते हैं।"

"अच्छा !"

"हाँ ! और तो किसी से मुझे भय है नहीं, अन्य सबों को तो मैं चुटकी में मसल सकता हूँ। मुझे यदि भय है तो आप की ओर से।"

"मेरी ओर से !"

"हाँ आपकी ओर से। परन्तु इस बात का भय नहीं है कि आप मेरे विरुद्ध मालिकों को भड़कायेंगे। भय इस बात का है कि आपके यहाँ होने से मालिक लोगों की बातों में आजायँगे।"

"मैं यह बात बिलकुल नहीं समझ सका।"

"मैं आपको समझाता हूँ। पहले तो यदि कोई व्यवस्थापक जी से कुछ भी कहता तो वे उसकी न सुनते, क्योंकि उनके सामनें कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति न था जिसे वे मेरे स्थान पर रखते; परन्तु इस समय तुम एक ऐसे आदमी हो जो मेरे स्थान पर रक्खे जा सकते हो। इसलिए शत्रुओं के लिए मार्ग सरल होगया। क्यों; आप मेरी बात समझे ?"

यह कह कर सम्पादकजी ने पुनः उपर्युक्त बात समझा कर कही।

शर्म्माजी ने कहा—"हाँ, अब मैं समझ गया।"

"तो अब मेरी लाज मान-मर्यादा तुम्हारे हाथ में है। शर्म्माजी, मैं तुम्हें अपना छोटा भाई समझता हूँ—यह यज्ञोपवीत हाथ में लेकर कहता हूँ कि इस में तनिक भी मिथ्या नहीं है। अतएव इस समय तुम्हें मेरी रक्षा करनी चाहिए। यदि तुम रक्षा नहीं करोगे तो मेरा सर्वनाश हो जायगा।"

यह कहते कहते सम्पादकजी के नेत्रों में आँसू छल-छला आये। शर्म्माजी सम्पादकजी की बातों से प्रभावित होकर बोले—"आप व्यर्थ में ऐसी बातें कहते हैं। मैं आपका दास हूँ—मुझे जैसी आज्ञा दीजिए वैसा करूँ।"

सम्पादकजी गद्‌गद् कंठ से बोले—"आज्ञा नहीं, प्रार्थना है। मैं एक ग़रीब ब्राह्मण हूँ। मेरे चार-पाँच छोटे-छोटे बच्चे हैं। मेरी उम्र अब इतनी हो गई है कि नये सिरे से उद्योग करना मेरे लिए असम्भव है। ऐसी दशा में यदि मैं यहाँ से अलग कर दिया गया तो मैं किसी काम का न रहूँगा।"

"शिव ! शिव ! आप ऐसी बात क्यों कहते हैं—ऐसा कभी न होने पायेगा।"

"हाँ यदि तुम न चाहोगे तो नहीं होने पायेगा और तुम चाहोगे तो हो भी जायगा। मेरे भाग्य का फ़ैसला तुम्हारे हाथों में है—चाहे

तारो, चाहे डुबाओ ।"

"मेरे किये जहाँ तक होगा वहाँ तक आपका उपकार ही करूँगा।"

"हृदय से कहते हो ?"

"हृदय से ।"

तो बस अब में निश्चिन्त हो गया ।

(४)

एक मास और व्यतीत होगया। एक मास के पश्चात् व्यवस्थापक जी की ओर से सम्पादकजी को एक मास का नोटिस मिल गया। सम्पादकजी नोटिस देखकर बहुत ही घबराये। उन्होंने तुरन्त शर्म्मा जी को बुलाकर कहा—"शर्म्माजी, जिसका मुझे भय था वही हुआ।"

"क्या हुआ ?"

"मालिक ने मुझे नोटिस दिया है कि या तो सहकारी बन कर रहना स्वीकार करो अन्यथा अपना दूसरा प्रबन्ध कर लो।"

शर्म्माजी विस्मित होकर बोले—"ऐसा !"

"मैंने तो तुम से कहा था।"

"हाँ, आपने तो कहा था, परन्तु मैं तो यह सोचे हुए था कि मुझ से पूछा जायगा तो मैं आपकी सिफारिश करूँगा; परन्तु वह सब तो कुछ भी न हुआ।"

"यही तो आश्चर्य है। आपसे और व्यवस्थापकजी से कुछ वार्तालाप हुआ था ?"

"बिल्कुल नहीं।"

"अच्छा तो कदाचित् यह सोचा हो कि मेरे चले जाने के पश्चात् वे तुम्हें मुख्य सम्पादक बना देंगे।"

"तो फिर क्या होगा ?"

"होगा क्या, सहकारी बनकर तो मैं यहाँ कदापि न रहूँगा--दूसरी जगह चाहे प्रूफ़रीडरी भले ही कर लूं। जहाँ प्रधान सम्पादक बन कर रहा, वहाँ सहकारी बनकर रहूँ--यह मुझसे न होगा--चाहे मर भले ही जाऊँ।" यह कहते कहते सम्पादक जी का गला भर आया।

शर्म्माजी चुपचाप खड़े सोचते रहे। सम्पादकजी अत्यन्त नैराश्य-पूर्ण स्वर में बोले--जाइए, काम कीजिए। बस, इतना ही कहने के लिए बुलाया था। जो भाग्य में बदा होगा वह होगा। शर्म्माजी चुप-चाप अपने कमरे में आकर बैठ गये।

शर्म्माजी को चिन्तित देखकर उपसम्पादक ने पूछा--"क्यों, क्या बात है, आप इतने उदास क्यों हैं?"

"सम्पादकजी को नोटिस दे दिया गया।" शर्म्माजी ने सिर झुकाये हुए उत्तर दिया।

उपसम्पादकजी ने हँसकर कहा--"देखा, मैं क्या कहता था। शर्म्माजी, मेरी बात ठीक निकली या नहीं?"

शर्म्माजी बोले--"क्या ठीक निकली! यह तो बड़ा अन्याय है।"

"यह अन्याय नहीं, न्याय है। अब आप सम्पादकी कीजिये ठाट के साथ--धूम मच जायगी।"

"मैं ऐसी धूम नहीं चाहता।"

"आप चाहें या न चाहें, धूम तो होगी ही।"

"मुझे सम्पादकजी की दशा पर तरस आता है।"

"यदि आपको तरस आता है तो यह आपके हृदय की कमज़ोरी है। वे तरस के योग्य हैं ही नहीं। लेख आप लिखें और सम्पादकजी कहते फिरें कि मेरा लिखा हुआ है। ऐसे संकीर्ण हृदय आदमी पर

तरस खाना चाहिए क्या ? ईश्वर ने आपको यह अनुपम अवसर दिया है। इसको हाथ से न जाने दीजिएगा।''

शर्म्माजी ने सोचा––ठीक तो कहता है। सम्पादकजी मेरे परिश्रम का सारा यश स्वयम् ही लूटते हैं–– मेरे लेखों पर अपना अधिकार जमाते हैं। दूसरों से कहते फिरते हैं कि शर्म्माजी को आता ही क्या है––मैं सिखा रहा हूँ। ऐसी दशा में मुझे क्या गरज पड़ी है ? जो हो रहा है होने दो। मुझे आगे बढ़ने का इतना अच्छा अवसर मिल रहा है। मैं क्यों चूकूं ? परन्तु दूसरे ही क्षण शर्माजी को ध्यान आया। मुझे यहाँ लाने वाला कौन था––सम्पादकजी। उन्हीं की बदौलत मुझे यह अवसर मिला। अन्यथा कहीं किसी आफ़िस में क्लर्की करता होता ! मैं अभी युवा हूँ, मेरे लिए आगे बढ़ने का बहुत समय है। परन्तु सम्पादकजी किसी काम के न रहेंगे। सम्पादकजी ने मेरे साथ नेकी ही की है––बदी नहीं। रही यह बात कि वे मेरा यश नहीं फैलने देते, इसका कारण उनका प्रधान सम्पादक होना है। प्रधान सम्पादक के पद ने उनमें यह दुर्बलता उत्पन्न कर दी है।

शर्म्माजी इसी उधेड़-बुन में थे कि उपसम्पादक ने पूछा––''क्या सोच रहे हो शर्म्माजी ?'' शर्म्माजी ने सादा काग़ज उठाते हुए कहा–''यही सोच रहा हूँ कि सम्पादकजी ने मुझे आश्रय दिया था तब मेरा भी यह कर्तव्य है कि अब इस अवसर पर उनकी सहायता करूँ !'' उपसम्पादक शर्म्माजी की ओर कुछ घृणापूर्ण दृष्टि से देख कर चुपचाप अपना काम करने लगा।

*   *   *

व्यवस्थापकजी के सामने एक लम्बा काग़ज रक्खा हुआ था।

व्यवस्थापकजी उसे पढ़ रहे थे। पढ़ते पढ़ते उनका मुख मलिन हो गया। उन्होंने घंटी बजाकर चपरासी को बुलाया। चपरासी के आने पर उन्होंने कहा––शर्म्माजी को बुलाओ।

थोड़ी देर में शर्म्माजी आये। व्यवस्थापक जी ने सामने रक्खे हुए काग़ज़ की ओर संकेत करके कहा—"यह क्या है शर्म्माजी ?"

"जो कुछ है वह आपके सामने है—" शर्म्माजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"परन्तु आप इस्तीफ़ा क्यों देते हैं ?"

"इसलिए कि सम्पादक जी को नोटिस दिया गया है।"

"परन्तु उनके स्थान पर आप नियुक्त किये जायँगे।"

व्यवस्थापक जी ने यह बात बड़ी आशा से कही। उन्होंने समझा कि शर्म्मा जी इस बात से प्रसन्न हो जायँगे। परन्तु जब शर्माजी ने कहा, "मुझे यह स्वीकार नहीं है," तब व्यवस्थापकजी के चेहरे का रंग उड़ गया। उन्होंने कुछ क्षण के पश्चात् कहा—"यह तो बड़ा बुरा हुआ। उधर सम्पादकजी को नोटिस दिया जा चुका है, इधर आप भी जा रहे हैं—पत्र का कार्य कैसे चलेगा। मैंने तो आप पर भरोसा करके सम्पादक को नोटिस दिया था।"

"ऐसी बात के सम्बन्ध में मुझ पर भरोसा करने के पूर्व आपको मुझ से पूछ लेना चाहिए था।"

व्यवस्थापक जी ने लज्जित होकर कहा—"हाँ इतनी ग़लती अवश्य हुई।"

शर्म्मा जी चुपचाप खड़े रहे। व्यवस्थापक जी कुछ क्षण तक चुप रह कर बोले—"तो आखिर आप किसी प्रकार इस इस्तीफे को वापिस भी ले सकते हैं ? बात यह है कि हम आपको नहीं छोड़ना चाहते।"

"तो आप अपना नोटिस वापस ले लें, मैं अपना इस्तीफा वापस ले लूंगा। पत्र का कार्य सुचारु रूप से चलना चाहिए, प्रधान सम्पादक चाहे वे रहें या मैं—इससे आपको क्या सरोकार है ? काम में बरा-

वर पूरी मुस्तैदी के साथ करता रहूँगा।"

व्यवस्थापक जी हँस कर बोले—"अच्छी बात है... जैसी आपकी इच्छा। मैं नोटिस वापस लेता हूँ।'

"तो मैं भी इस्तीफा वापस लिये लेता हूँ।"

यह कह कर शर्म्माजी ने इस्तीफा उठा लिया और फाड़ कर फेंक दिया।

———

श्री चण्डीप्रसाद "हृदयेश"

हृदयेश जी ने देहरादून और मसूरी के प्राकृतिक वातावरण में कला और सौंदर्य-सृष्टि की शिक्षा प्राप्त की थी। ये 'इण्डियन डिफ़ेंस फोर्स' में रहे थे। इनका जन्म सन् १८६६ में और देहावसान २८ वर्ष की उम्र में सन् १६२७ में हुआ। इस अल्पकाल ही में इन्होंने हमें बहुत कुछ दिया था। 'मनोरमा' और 'मंगल-प्रभात' इनके उपन्यास हैं तथा 'नंदन-निकुञ्ज' और 'वनमाला' कहानी-संग्रह हैं।

"हृदयेश" जी की कहानियों में निबन्ध, कविता और कहानी का आनन्द एक साथ प्राप्त होता है। इनमें कल्पना का पुट अधिक होता है। इससे कथा की गति में बाधा तो अवश्य पड़ती है, परन्तु, इन कहानियों का हिन्दी में अपना निश्चित स्थान है। हृदयेश जी की शैली बाण और दण्डी का स्मरण कराती है।

प्रस्तुत कहानी इतनी ही है कि विश्वनाथ और रमानाथ दो मित्र थे। वे देश की दुरवस्था से बहुत द्रवित हुए। देश को कर्मण्य बनाने के लिए उन्होंने एक संन्यासी की प्रेरणा से सब सुखभोग का त्याग करने, और जीवन तक का बलिदान करने का निश्चय किया तब उन्हें भारत माता की सौख्य-मूर्ति के दर्शन हुए। 'स्वदेश-सेवा' और विश्व-प्रेम' के लिए दोनों युवक संन्यासी बनकर निकल पड़े।

कहानी का उद्देश्य उपदेश देना ही जान पड़ता है।

प्रतिज्ञा

जीवन ज्योति का निर्माण ! कहाँ है ? नैराश्य की कालिमामयी कन्दरा में, अथवा आनन्द के आलोकमय प्रासाद में ? कल्पना और चिन्ता ! इसका उत्तर क्या तुम दोनों की सर्वत्र-विहारिणी बुद्धि के भी परे है ?

(उत्तर हो, या न हो, कर्तव्य के कठोर पथ से भ्रष्ट हो जाने पर जीवन-ज्योति अवश्य ही रसातल की अपमान-कन्दरा में चिरकाल के लिए पतित हो जायगी, भविष्य-गगन के बाल-सूर्य की उज्ज्वल आभा अज्ञान-सिन्धु के भयंकर वक्षस्थल में निश्चय ही विलीन हो जायगी। ऐसे समय जीवन-मरण की विकट समस्या के समुपस्थित होने पर कौन-से मार्ग का अवलम्बन करना होगा ?) विश्वनाथ के विमल हृदय में इस क्रांतिकारी प्रश्न ने बड़ी हलचल मचा दी है।

विश्वनाथ की अवस्था २० वर्ष की है। बी० ए० पास होने पर भी उन्हें ग्राम्य जीवन और ग्रामीण वेश ही विशेष प्रिय है। जिन्हें अंग्रेजी पढ़कर अपने देश और वेश से घृणा हो जाती है, शिक्षा के सर्वोच्च सोपान पर पहुँच कर भी जिनमें करुणा और विनय का एकान्त अभाव तथा स्वार्थ और अहंकार का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है, जो देश के सर्वस्व का उपभोग करते हुए भी उसके साथ—अपने जन्मदाता के साथ विश्वासघात करने में क्षण-मात्र भी कुण्ठित नहीं होते, जो देश की दरिद्र सन्तान से अन्नदात्री कृषक-मंडली से एक बार हँसकर बोलने में भी अपनी निःसार मान-मर्यादा के अपमान की कल्पना करते हैं, उनके विदेशी सभ्यता के तीव्र आलोक में विचरने वाले ममता-शून्य अहम्मानियों के विश्वनाथ अपवाद स्वरूप थे।

विश्वनाथ जिस ग्राम में रहते थे, वह उन्हीं की ज़मींदारी में था। विश्वनाथ केवल अपने माता पिता के ही स्नेह भाजन हों, यह बात न थी। गाँव के छोटे-बड़े धनी मानी लोग राव-रंक सभी विश्वनाथ से समान स्नेह करते थे। विश्वनाथ की करुणा-लहरी भी अनवरुद्ध गति से प्रवाहित होकर सबको समान भाव से शीतल करती थी। गाँव की युवतियाँ उन्हें भाई कहती थीं। गाँव के कपट–शून्य युवक उनसे सहोदर समान स्नेह करते थे। गाँव की प्रौढ़ा उन्हें अपनी संतान के समान देखतीं श्रौर गाँव के बच्चे बूढ़े उन्हें अपनी आत्मा का दूसरा स्वरूप समझते। प्रकृति के उस परमरम्य विहार वन में, स्नेह उस सौरभमय निकुंज में श्रौर शांति के उस पुण्य उपवन में विश्वनाथ इस प्रश्न की समुचित समस्या हल करने के लिए व्याकुल हो उठे।

तर्क! वक्र गति का परित्याग कर दो। नियम! अपवाद का अनादर कर दो। न्याय! विकार का वहिष्कार कर दो। श्रौर सत्य! तुम अपने ध्रुव आलोकमय रूप म दर्शन देकर विश्वनाथ के हृदय-गगन की इस सन्देह कालिमा को दूर कर दो।

(२)

इस ब्रह्माण्ड-व्यापी भूकम्प के समय भारतवर्ष अपने पैरों पर खड़ा रह सकेगा या नहीं, इस विषय पर विचार करते-करते विश्वनाथ ग्रामवाहिनी कल्लोलिनी के तट पर घूम रहे हैं। दिन-नाथ अपनी अरुण किरणों से सरोजिनी के म्लान होते हुए मुख का चुम्बन करके अपनी रसातल यात्रा में अग्रसर हो रहे हैं। मध्य-गगन में अष्टमी का अर्धचन्द्र भुवन-भास्कर के असीम राज्य पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए विशेष समुत्सुक हो रहा है।

विश्वनाथ आप ही आप कहने लगे—कैसी भयंकर परिस्थिति है! कहाँ है देवताश्रों के ऐश्वर्य को पराजित करने वाली वह

विभूति ? स्वप्न हो गई ! ये सब इतिहास-शेष बातें हैं । देखता हूँ, कमलदल-विहारिणी भगवती कमला अपने कर-सरोज के मुरझाये हुए एक पल्लव शेष सरोज को अपनी अश्रुधारा से सिक्त कर रही हैं । देवी शारदा भग्नावशेष भवन में बैठ कर. अपनी भुवनमोहिनी वीणा के टूटे हुए तारों को मिलाकर मर्मान्तक गान गा रही हैं । चली गई सब सम्पदा ! कहाँ है वह ऋद्धि-सिद्धि का अनुपम नृत्य ? कहाँ है वह विश्वविमोहन ऐश्वर्य ? विधि का कैसा भयानक विधान है ? भाग्य नायक का कैसा मर्मभेदी दुःखान्त दृश्य है ? आनन्द का वह जयोल्लास मानो अनन्त गगन में विलीन हो गया, ऐश्वर्य की वह आभा मानो अनन्त तिमिर के उदर में शेष हो गई; विभूति मानो श्मशान भूमि में भूति-शेष रह गई !

कहते-कहते विश्वनाथ के लोचन-युगल से अश्रुधारा बहने लगी । हृदय में जब भयंकर उत्ताप होता है, कल्पना जब केवल प्रज्वलित प्रदेश में परिभ्रमण करती है, मस्तिष्क जब चिता-भूमि की भाँति, धधकते हुए विचारों का केन्द्र बन जाता है, तब नयनों की अश्रुधारा क्या इस भयंकर अग्नि-मयी को शान्त करने में समर्थ होती है ?

विश्वनाथ अश्रु-प्रवाह को पोंछकर पुनः कहने लगे—सुनता हूँ विधवाओं का मर्म-भेदी आर्तनाद, शुष्कस्तनी माताओं के मृतप्राय बालकों का भयंकर चीत्कार, दरिद्रों का भीषण अट्टहास; और हाय ! इन सबके बीच में सुनता हूँ सर्व-नाशिनी ईर्षा की पैशाचिक हँसी ! लज्जा आज शीर्ण-वस्त्रावृता है, शील जठराग्नि में दग्ध होकर विकल हो रहा है, आचार अभाव के कठोर अत्याचार से मृत-प्राय हो रहा है और प्रेम चिन्ता की भयंकर चिता में दग्ध होकर भस्मावशेष होना चाहता है । हा दैव !

विश्वनाथ अत्यन्त उद्विग्न हो उठे । जब दुःख-सिन्धु अपनी मर्यादा का उल्लंघन करना चाहता है, प्रकाण्ड भू-कम्प का आघात जब धैर्य

शैल को रसातल के गर्भ में ले जानें का उपक्रम कर रहा है, प्रबल पयोद-पुंज अपनी भयंकर गर्जना में जब निर्बल के मन्द चीत्कार को विलीन कर लेना चाहता है, तब प्रलय में जगत् के भीषण परिवर्तन में विशेष विलम्ब नहीं है।

(३)

रमानाथ और विश्वनाथ बाल्य-बन्धु हैं। कल्लोलिनी तट पर निकुञ्ज-वन में, दोनों नें अनेक बार अपनें अपने सरल हृदय के निश्छल भावों को एक दूसरे के सम्मुख प्रकट किया है। एक ही भूमि पर दोनों नें सूर्य की प्रथम किरणों को देखा, एक ही भूमि पर दोनों ने मनोहर बाल्य जीवन को समाप्त करके यौवन में पदार्पण किया, एक ही कालेज में अध्ययन करके दोनों ने बी.ए. की उपाधि प्राप्त की और एक ही मन प्राण होकर दोनों ने अपने अपने जीवन की अमूल्य मणि को एक ही प्रेम-सूत्र में पिरोया। रमानाथ और विश्वनाथ का यह देव-दुर्लभ प्रगाढ़ प्रेम इस कुत्सित विश्व की कपट नाट्यशाला में, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के आदर्श चरित्र की भाँति, एक स्वर्गीय दृश्य है।

विश्वनाथ आज रमानाथ के बिना ही कल्लोलिनी तट पर विचरण करनें आये थे। यह रमानाथ के लिए प्रथम आश्चर्य था। अपनें अतीत जीवन में रमानाथ ने विश्वनाथ के बिना और विश्वनाथ ने रमानाथ के बिना कोई भी कार्य नहीं किया था। नित्य ही दोनों एक स्थान पर भोजन करते; नित्य ही दोनों एक ही कक्षा में अपने-अपनें अध्ययन में प्रवृत्त होते। आज विश्वनाथ रमानाथ को छोड़कर अपने चिन्ता-दग्ध हृदय को लेकर, कल्लोलिनी-तट पर कल्पना की सहायता से माता का करुणापूर्ण मुख-मंडल देखते-देखते विचरण कर रहे हैं। यह विश्वनाथ और रमानाथ के प्रेम-इतिहास का एक नूतन अध्याय है।

जिस समय विश्वनाथ अपनी कक्षा से बाहर निकले थे, उस समय रमानाथ सो रहे थे, उन्हें निद्रा देवी की सर्व-संतापहारिणी गोद में छोड़कर विश्वनाथ चले आये थे। रमानाथ ने जागकर देखा कि विश्वनाथ नहीं हैं। आश्चर्य और आवेग के साथ, सन्देह और संशय के साथ, रमानाथ शीघ्रता-पूर्वक कल्लोलिनी-तट के अभिमुख चले गये।

(जिस स्थल पर प्रेम को दो शीतल धारायें मिलती हैं उस स्थान को भगवान् की अदृश्य करुणा-लहरी प्रयाग-तीर्थ में परिणत करती है। इस पवित्र त्रिवेणी-संगम पर स्नान करने वाले, योग-दुर्लभ परम-पद को प्राप्त कर, विश्व को-संतप्त संसार को विश्व प्रेम का पवित्र पाठ पढ़ाते हैं।) रमानाथ और विश्वनाथ की सृष्टि क्या भगवान् ने उसी उद्देश्य से नहीं की ?

रमानाथ ने देखा, विश्वनाथ की मुखश्री, (दिनकर-किरण संतप्त सुमन की भाँति, मलिन है, स्निग्ध करुण-पूर्ण लोचन-युगल जलपूर्ण हैं और कुसुम-कोमल शरीर शिथिल हो रहा है)। रमानाथ ने आवेग से उनका हाथ पकड़ कर कहा—विश्वनाथ !

विश्वनाथ ने चौंक कर कहा—कौन ? रमानाथ !

(४)

(पतंग-प्रिया पद्मिनी, प्रोषित-पतिका की भाँति, श्री-विहीन होकर संकुचित हो गई। पक्षिकुल संरक्ष-विहीन गायक-समाज की भाँति मूक हो गया। प्रकृत, परिश्रम के विश्राम की भाँति स्तब्ध हो गई। गगनांगण में विहार करता हुआ चन्द्रमा अपनी शुभ्र चन्द्रिका की शीतल धारा से धरणी देवी के दिनकर-कर-तप्त कलेवर का सिंचन करने लगा। कुमुदिनी प्रिय का चुम्बन पाकर प्रफुल्लित औषधियाँ अनुकूल नायक को प्राप्त करके स्नेह के आवेश में चमकने लगीं।) रमानाथ ने कहा—विश्वनाथ, अपनी इस तीव्र व्यथा की बात मुझसे

न कह कर तुमने मेरे साथ कैसा अन्याय किया है, सो तुम जानते हो ?

विश्वनाथ ने दुःखित स्वर में कहा—भैया, मैं सदा का दोषी हूँ। तुम्हारे प्रेम का मैंने अनादर किया हो, यह बात नहीं है। तुमसे मैंने कौन-सा रहस्य छिपाया है ? वास्तव में मेरे इस जीवन का समस्त इतिहास तो तुम्हारे हृदय की प्रेम-पुस्तक में लिखा है। भैया, मैं समझता था कि इस विश्व में सहानुभूति और करुणा की शीतल तरंगिणी अनवरुद्ध गति से बहती है। किन्तु नहीं, अब देखता हूँ कि प्रबल अत्याचार का प्रकाण्ड पर्वत, द्वेष की कठोर भिति, स्वार्थ-प्रवृत्ति का भीषण पाषाण-समूह, एकमत होकर पग-पग पर, मही-तल को शीतल करने वाली निर्झरिणी के मार्ग का अवरोध कर रहे हैं। भारत-भूमि निर्बलों के रक्त से लाल हो रही है। हिमाचल की कन्दरायें बालक-बालिकाओं की क्रन्दन-ध्वनि से परिपूर्ण हो रही हैं। भारतीय गगन-मंडल अबलाओं की रोदन-ध्वनि से विदीर्ण हो रहा है। बोलो रमानाथ, विश्वेश्वर का सिंहासन फिर कब डोलेगा।

कहते-कहते विश्वनाथ फिर अधीर हो उठे। रमानाथ ने भी एक बार आवेश के साथ उत्तर दिया—डोलेगा। अवश्य डोलेगा। क्यों न डोलेगा ? किन्तु भाई, जब तक हमारे ही हृदय का करुण सिंहासन अचल भाव में स्थित रहेगा, जब तक हमारा रक्त धमनी में जल होकर बहता रहेगा, जब तक समस्त भारत एकमन, एकप्राण होकर एक ही उद्देश्य की ओर प्रधावित नहीं होगा, जब तक अकर्मण्य बन कर केवल कल्पना द्वारा ही भारतवासी, भगवान् की करुणा को पुकारते हुए भारत के सौभाग्य को उज्ज्वल करने की व्यर्थ चेष्टा में प्रवृत्त होते रहेंगे, तब तक भगवान् का सिंहासन कदापि न डोलेगा। शैतान के वीभत्स हास्य में, कल्पना के गम्भीर गह्वर में, भारत की प्रार्थना—कर्महीन विनय—विलुप्त हो जायगी।

विश्वनाथ ने कुछ शांत होकर कहा——कर्म-हीन विनय निश्चेष्ट प्रार्थना-करुणामय भगवान् के कर्ण-कुहर में कदापि प्रवेश न करेगी। भारतवर्ष को इस कर्म-क्षेत्र में लाने के लिए मैं उद्विग्न हो रहा हूँ। सोचता हूँ; यदि इस सीमाबद्ध बुद्धि का इसी कर्म-क्षेत्र में भारत-वासियों को कर्मण्य बनाने के पुण्य प्रयास में, शिव और शैतान के भयंकर संग्राम में, मातृ-वेदी पर बलिदान हो जाय, तो इससे बढ़कर और क्या है।

रमानाथ ने आग्रह-पूर्वक कहा——सत्य कहते हो भैया! तुम्हारी आकांक्षा अभिनन्दनीय है। जानते हो, इस बलिदान का फल ध्रुव विजय है; हृदय का तप्त शोणित-प्रेम का पवित्र पीयूष प्रवाह-अक्षय ज्योति को प्राप्त करने का अव्यर्थ साधन है।

विश्वनाथ ने उत्सुकता से पूछा——रमानाथ, बता सकते हो, इस महान् यज्ञ के अनुष्ठान के लिए क्या करना होगा?

इसी समय निकुंज की दूसरी ओर से एक नवयुवक संन्यासी ने गम्भीर ध्वनि से कहा——"त्याग"।

रमानाथ और विश्वनाथ चौंक उठे। उन्होंने देखा, एक शतायु संन्यासी सम्मुख खड़ा है। मुख पर अपूर्व तेज है। शरीर अत्यन्त सुन्दर एवं गठा हुआ है। एक हाथ में त्रिशूल है, दूसरे में भिक्षा-पात्र। संन्यासी ने कहा——बन्धु-द्वय, तुम दोनों की बातें सुन कर मुझे परम सुख प्राप्त हुआ है। चलो संन्यासी की कुटी को पवित्र करो।

रमानाथ और विश्वनाथ ने बद्धाञ्जलि प्रणाम किया। संन्यासी ने ईषद्-हास्य के साथ कहा——"विजय हो।"

रमानाथ और विश्वनाथ संन्यासी के पीछे-पीछे चल दिये। ग्राम-विहारिणी सरिता एक सुन्दर वन में प्रवेश करती है। वास्तव में एक विस्तृत वन के मध्य ही में होकर, मधुर कलकल की ध्वनि करती

हुई अभिसारिका की भाँति, सिन्धुपति की ओर अग्रसर होती है। प्रकृति की उसी विहारस्थली में सरोजिनी शोभित सरिता के सुरम्य तट पर, संन्यासी की लता-पत्रादि-वेष्टित स्वनिर्मित कुटी है। संन्यासी की आज्ञा पाकर विश्वनाथ और रमानाथ, कुटी के बाहर ही, चन्द्रिका-चर्चित दूर्वा के कोमल आस्तरण पर बैठ गये। संन्यासी भी उनके सम्मुख बैठ गया।

संन्यासी ने कहा—युगल बन्धु, जानते हो तुम्हारा कर्म-क्षेत्र दुग्ध-फेन-सम कोमल शय्या नहीं; किन्तु कण्टकाकीर्ण दुस्तर मार्ग है। विश्व के समस्त काल्पनिक बन्धनों को काट कर सब को एक प्रेम-सूत्र में गूंथना होगा। मातृ-ऋण कितना बड़ा है, सो तुम्हें बताने की आवश्यकता नहीं। इसी महान् ऋण से उऋण होने के लिए, दुःख की कठोर शृंखलायें बँधी हुई अपनी "स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमि को सुखी करने के लिए, तुम्हें संसार के समस्त सुख-भोगों को तिलाञ्जलि देनी होगी। आवश्यकता पड़ने पर जीवन का भी बलिदान करना होगा।

विश्वनाथ ने उत्साहपूर्वक कहा—भगवन्! चराचरेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी से यही विनय है कि मैं बार बार जन्म लेकर मातृ-वेदी पर बलिदान हो जाऊँ। माता के चरण-तल में लोचन बिछा दूँ, यही हृदय की आकांक्षा है। हृदय का उत्तम शोणित देकर, भगवन्! मातृ-मुख पर मधुर मुस्कान दे सकूँ—ऐसा वर दीजिये। जीवन की साध यही है; चिर-पालित आशा का पुरस्कार यही है।

रमानाथ ने आवेश में कहा—पूज्यवर, देखना चाहता हूँ, माता की उस मधुर मुस्कान को, जिसे देख कर विश्वेश्वर भी विस्मित और विमोहित हो गये थे। देखना चाहता हूँ, हिमाचल के तुषार-मण्डित सुवर्ण-शृंग पर माता की फहराती हुई विजय वैजयन्ती को। सुनना

चाहता हूँ, सौख्य का वह श्रुति-मधुर कलकल-नाद और भेंट में देना चाहता हूँ यह पञ्जर-वद्ध हृदय ।

सुनते-सुनते संन्यासी का मुख देदीप्यमान हो गया । उन युगल बन्धु की आवेश-पूर्ण वाणी सुन कर संन्यासी का कलेवर रोमाञ्चित हो गया । संन्यासी ने आग्रह तथा आवेश के साथ कहा––आओ प्रिय-बन्धु-द्वय, मातृ-दर्शन करें ।

(५)

युवक संन्यासी के साथ विश्वनाथ और रमानाथ ने कुटी के भीतर प्रवेश किया । प्रवेश करते ही विश्वनाथ और रमानाथ ने जो अनुपम दृश्य देखा, उसे देख कर वे एकदम ही विमुग्ध हो गये । उन्होंने देखा अनन्त-विभूतिमयी, परम लावण्यमयी, माता की करुण मूर्ति को । घृत-दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में अपनी स्निग्ध आभा को मिलाकर माता का सौख्य उन तीनों के मुख-मण्डल पर करुणा की अविरल धारा बरसाने लगा ।

माता का योगिनी-वेश था । वह सौम्य तेज से परिपूर्ण कलेवर गैरिक वस्त्र से आच्छादित था । एक हाथ में था कमल, दूसरे में विजय-शंख, तीसरे में मनोहर वीणा और चौथे में चमकता हुआ त्रिशूल । मुख पर हास्य, लोचन में करुणा, ललाट में तेज ! आज भगवती मानो साधना रूप से प्रकट हुई थीं ।

विश्वनाथ, रमानाथ और संन्यासी ने माता को साष्टांग प्रणाम किया । प्रतिमा मानो, अपनी स्वाभाविक हँसी के द्वारा आर्शीवाद-लहरी से उन तीनों को सिक्त करने लगी ।

संन्यासी कोकिल-कंठ से गाने लगा । हृदय के आवेश में विश्व-नाथ और रमानाथ भी संन्यासी के स्वर में स्वर मिलाकर गाने लगे । मातृ-प्रतिमा मन्द हास्य करती हुई सुनने लगीं—

गान

जयति जय जननी !

जीवन-मूरि ज्योति लोचन की, अरि-कुल सकल प्रमथनी !
नित पयोधि परसत, पद-पंकज, पुण्य-पीयूष प्रसवनी !
वारत तन-मन-धन-जन-जीवन, जीवन-पाप-प्रशमनी !
माँगत नित 'हृदयेश' चरण-रति, मति-गति मो-मन वसनी !

गान समाप्त होने के बाद संन्यासी ने कहा—बन्धु-द्वय, मातृ-चरण का स्पर्श करके प्रतिज्ञा करो कि हम माता की उन्नति के लिए जीवन-दान देकर चेष्टा करने में भी पराङ्मुख नहीं होंगे ।

विश्वनाथ और रमानाथ ने मातृ-चरण छूकर प्रतिज्ञा की । इसी समय माता के कर-सरोजों से विश्वनाथ और रमानाथ के गले में दो मालायें गिर पड़ी । माता ने मानो विजय-माला पहना कर कहा—'विजय हो' ।

* * *

उसी रात्रि को, उसी पुण्य अवसर में विश्वनाथ और रमानाथ ने अपने कर्तव्य-मार्ग को ठीक जान लिया । संसार का निःसार मोह-बन्धन काट कर विश्व-प्रेम के अनन्त आश्रय को प्राप्त करके, प्रकृति के पुण्य आर्शीवाद को अपने शीश पर धारण करके, ऋषि-पुञ्ज के मन्त्र-पूत जल से पवित्र होकर, देवताओं की अविरल पुष्प-वृष्टि में देवांगनाओं के स्वर्गीय संगीत में, 'स्वदेश-सेवा और सुख' का गम्भीर निनाद करते हुए दो निष्काम युवक संन्यासी कर्तव्य की कठोर भूमि में अवतीर्ण हुए । चन्द्रदेव ने हँस कर कहा—शुभास्ते पन्थानः ।

कल्लोलिनी ने कलकल-ध्वनि से कहा—शुभास्ते पन्थानः ।

अचल ने अचल भाव में कहा—शुभास्ते पन्थानः ।

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी जी का जन्म कानपुर जिला के अंतर्गत मंगलपुर ग्राम में सन् १६०० में हुआ। शिक्षा मिडल तक ही प्राप्त हो सकी। "संसार", "दैनिक विक्रम" तथा "माधुरी के सम्पादकीय विभाग में कई वर्ष काम किया। चार वर्ष तक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सहायक मंत्री रहे। आजकल कानपुर में रहते हैं। हिन्दी कथा-साहित्य के विकास में निस्सन्देह आपका महत्वपूर्ण हाथ है। इन्होंने बहुत कुछ लिखा है—आठ-दस उपन्यास, आठ-दस कहानी-संग्रह। उपन्यासों में 'पतिता की साधना', 'पिपासा', 'प्रेम-पथ', 'पतवार' और 'निमंत्रण' प्रसिद्ध हैं। आपके कहानी-संग्रह हैं—'मधुपर्क', 'दीप-मालिका', 'हिलोर', 'पुष्करिणी', 'ज्वार-भाटा', 'खाली बोतल', 'कला की दृष्टि' आदि।

आपकी कहानियों में प्रायः मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण होता है। वर्णनात्मक होने पर भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वे अनूठी और मनोहर होती हैं। आपकी भाषा सुबोध तथा प्रभावोत्पादक रहती है।

प्रस्तुत कहानी में नायक के एक विशिष्ट गुण का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया गया है। इसमें कथा का अंश बहुत कम है। यह नहीं बताया गया कि मिठाईवाला कौन था, अपने लड़कों की मृत्यु के पहले वह क्या करता था और उसके लड़कों की मृत्यु

क्यों हुई, इत्यादि। परन्तु इतना बताने के लिए कि लड़कों की मृत्यु के पश्चात् उसे बच्चों के साथ, दूसरे बच्चों के साथ, कितना प्यार है और किस प्रकार वह प्रत्येक बच्चे में अपने ही बच्चे की प्रतिमूर्ति देखता फिरता है, लेखक अपने नायक को खिलौने देकर, कभी मुरलियाँ देकर और कभी मिठाई देकर घुमाता है। सस्ती और कभी-कभी मुफ्त चीजें देकर नायक को जो संतोष होता है, उसी का मनोवैज्ञानिक चित्रण करना कहानीकार का उद्देश्य है।

मिठाईवाला

(१)

वहुत ही मीठे स्वरों के साथ व गलियों में घूमता हुआ कहता, "बच्चों को बहलाने वाला, खिलौने वाला" ।

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र किन्तु मादक मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुनने वाले एक वार अस्थिर हो उठते । उसके स्नेहाभिसिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती । छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुये युवतियाँ चिकों को उठाकर अपने छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं । गलियों और उनके अंतर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुण्ड उसे घेर लेता और तव वह खिलौने-वाला वहीं कहीं बैठकर खिलौने की पेटी खोल देता ।

बच्चे खिलौने की पेटी देखकर पुलकित हो उठते । वे पैसे लाकर खिलौने का मोल भाव करने लगते । पूछते, "इसका दाम क्या है और इछका औल इछका ?" खिलौने वाला बच्चों को देखता और उनकी नन्हीं-नन्हीं उँगलियों से पैसे ले लेता और बच्चों को इच्छानुसार खिलौने दे देता । खिलौने लेकर बच्चे फिर उछलने-कूदने लगते और तब खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर कहता, "बच्चों को बहलाने वाला, खिलौनेवाला"। सागर की हिलोर की भाँति उसका यह मादक गान गली भर के मकानों में, इस ओर उससे ओर तक लहराता हुआ पहुँचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता ।

राय विजय बहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आये । वे दो बच्चे थे । चुन्नू और मुन्नू । चुन्नू जब खिलौने ले आया

तो बोला, "मेला घोला कैछा छुन्दल ऐ।" मुन्नू बोला, "ओल देखो मेला आती कैछा छुन्दल ऐं।"

दोनों अपने हाथी घोड़े लेकर घर भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा, "अरे ओ चुन्नू मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिये है?" मुन्नू बोला, "दो पैंछे में, खिलौनेवाला दे गया ऐ।"

रोहिणी सोचनें लगी---इतने सस्ते कैसे दे गया हैं, कैसे दे गया है यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, यह निश्चय है।

एक ज़रा सी बात ठहरी। रोहणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ती?

(२)

छः महीने बाद।

नगर भर में दो-चार ही दिनों में एक मुरली वाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे, "भई, वाह! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है। सो भी दो-दो पैसे में। भला इसमें उसे क्या मिलता होगा। मेहनत भी तो नहीं आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ दिया, "कैसा है वह मुरली वाला, मैंने तो नहीं देखा?"

उत्तर मिला, "उम्र तो उसकी अभी अधिक न होगी। यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है। बीकानेंरी रंगीन साफा बाँधता है।"

"वही तो नहीं जो पहिले खिलौने बेचा करता था?"

"क्या वह पहिले खिलौना भी बेचा करता था ?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा, पर भई है वह एक ही उस्ताद"।

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरली वाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला मुरलियावाला।"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौने वाले का स्मरण हो आया। उसने मन ही मन कहा, "खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौना बेचता था।"

रोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली, ज़रा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने वह फिर आये या न आये ! वे भी जान पड़ता है पार्क में खेलने निकल गये हैं।

विजय बाबू एक समाचारपत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह वे लिये हुए द्वार पर आकर मुरलीवाले से बोले, "क्यों भाई, किस तरह देते हो मुरली ?"

"किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क ही में छूट गया और किसी की सोथनी ही ढीली होकर लटक आई। इसी तरह दौड़ते-हाँफते बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे, "अम बी ले दे मुल्ली और अम बी ले दे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष से गद्‌गद् हो गया, बोला, सबको देंगे भैया ! लेकिन ज़रा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को ज़रा लेने दो, हम इतनी जल्दी कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आये ही हैं और हैं भी

नहीं मेरे पास एक दो, पूरी सत्तावन। हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने? कितने में दी? दी तो वैसे तीन पैसे के हिसाब से, पर आपको दो-दो पैसे में ही दूंगा।

विजय बाबू भीतर बाहर दोनों ही रूपों में मुस्करा दिये। मन ही मन कहने लगे, कैसा ठग है। देता है सबको इसी भाव से, पर मुझ पर उल्टा एहसान लाद रहा है। फिर बोले, "तुम लोगों को झूठ बोलने की आदत ही होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझा मेरे ही ऊपर लाद रहे हो।"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा! बोला, "आपको क्या पता बाबू जी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर ही होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं कि दूकानदार मुझे लूट रहा है।.... आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिये तो बाबू जी, इनका असली दाम दो ही पैसे हैं। आप कहीं से भी ये मुरलियां दो दो पैसे में नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं तब मुझे इस भाव पड़ीं।"

विजय बाबू बोले, "अच्छा अच्छा, मुझे अधिक समय नहीं है, मुझे दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजय बाबू फिर मकान के भीतर चले गये। मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरली बेचता रहा। उसके पास कई रंग की थीं। बच्चे जो रंग पसन्द करते, वह उसी रंग की निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है। तुम यही ले लो राजा बाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है।······हाँ, भैये तुमको यही देंगे। ये लो। तुमको वैसी न चाहिये, ऐसी चाहिये। यह नारंगी रंग की, अच्छा।

यही लो। पैसे नहीं हैं, अच्छा, अम्माँ से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ। तुम ले आये पैसे? अच्छा ये लो, तुम्हारे लिये मैंने पहिले ही से यह निकाल रखी है। तुमको पैसे नहीं मिले। तुमने अम्माँ से ठीक तरह से माँगे न होंगे। धोती पकड़ कर पैरों में लिपट कर, अम्माँ से पैसे माँगे जाते हैं। बाबू! हाँ फिर जाओ, अब की बार मिल जायँगे। दुअन्नी है। तो क्या हुआ ये दो पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब? मिल गये पैसे? देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई। अच्छा, तो किसी को नहीं लेना है। तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं? अच्छा तुम भी यह लो। अच्छा तो अब चलता हूँ।

इस तरह मुरली वाला आगे बढ़ गया।

(३)

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करने वाला फेरी वाला पहिले कभी नहीं आया। फिर वह सौदा भी कितना सस्ता बेचता है। भला आदमी जान पड़ता है। समय की बात है, बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराये थोड़ा है।

इसी समय मुरली वाले का क्षीण स्वर दूसरी गली में सुनाई पड़ा, "बच्चों को बहलाने वाला मुरलीवाला।" रोहिणी इसे सुनकर कहने लगी, "और स्वर कैसा मीठा है इसका?"

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का वह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति ये स्नेहसिक्त बातें याद आती रहीं। महीने पर महीने आये और चले गये। पर मुरलीवाला न आया। धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

(४)

आठ मास बाद।

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान कर अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानु-विलम्बित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा, "बच्चों क़ो बहलानेवाला, मिठाईवाला"।

मिठाईवाले का स्वर उसके लिये परिचित था। झट से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली, "दादी, चुन्नू मुन्नू के लिये मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चल कर ठहराओ तो, मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हट कर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी। दादी उठ कर कमरे में आई और पुकारा "ऐ मिठाईवाले, जरा इधर आना"।

मिठाईवाला निकट आ गया, बोला, "कितनी मिठाई दूं माँ! ये नये तरह की मिठाइयाँ हैं। रंग-बिरंगी, कुछ खट्टी, कुछ मीठी, ज़ायकेदार। बड़ी देर तक मुंह में टिकती है। जल्दी नहीं घुलती। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के अलावा ये खाँसी भी दूर करती है। कितनी दूं चपटी, गोल, पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।

दादी बोली "सोलह तो बहुत कम होती हैं, भला पच्चीस तो देते।"

मिठाईवाला, "नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे दे सकता हूँ, यह अब मैं तुम्हें......। खैर, मैं अधिक न दे सकूंगा।" रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली, "दादी, फिर भी काफ़ी सस्ता दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।" मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा। "तो चार की दे दो। अच्छा,

पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव अब मुझे आता भी नहीं।" कहते हुये दादी के पोपले मुँह से ज़रा-सी मुस्कराहट भी फूट निकली। रोहिणी ने दादी से कहा, "दादी इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आये थे, यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दुहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाई-वाले ने उत्तर दिया, "पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली, "पहिले यही मिठाई बेचते हुये आये थे या और चीज़ लेकर?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मय के भावों में डूब कर बोला, "इससे पहिले मुरली लेकर आया था और उससे भी पहिले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी बातें पूछने को अस्थिर हो उठी। वह बोली, "इन व्यवसायों में तुम्हें क्या मिलता होगा?"

वह बोला, "मिलता भला क्या है? यही, खाने भर को मिल जाता है, कभी नहीं भी मिलता। पर हाँ, सन्तोष, धीरज और कभी-कभी असीम सुख मिलता है और यही मैं चाहता भी हूँ।

"सो कैसे, यह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ उन बातों की क्यों चर्चा करूँ? उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख ही होगा।"

"जब इतना बताया है तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। मिठाई में और भी कुछ ले लूँगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा, "मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था। स्त्री थी, छोटे-छोटे बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का। स्त्री सुन्दरी थी, मेरे प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के जीवित खिलौने। उनके अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता। समय की गति, विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादी! अब प्राण निकाले नहीं निकले। इसलिये अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं न कहीं तो जन्मे होंगे। उस तरह रहता तो घुल-घुल मरता। इस तरह सन्तोष सुख के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने बच्चों की झलक भी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि वे कहीं इन्ही में हँस-हँस कर उछल-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है। आपकी दया से पैसे तो काफी हैं; जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा, उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आके रोहिणी से लिपट कर, उसका आँचल पकड़ कर बोले, "अम्मा मिठाई"

"मुझसे लो।" कहकर तत्काल कागज़ की दो पुड़ियाँ मिठाइयों से भरी मिठाईवाले ने चुन्नू मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिये।

मिठाई वाले ने पेटी उठाई और कहा, "अब इस बार ये पैसे न लूंगा।"

दादी बोली, "न न, अरे अरे, अपने पैसे लिये जा भाई !"

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक, मृदुल स्वर में—

"बच्चों को बहलाने वाला, "मिठाईवाला।"



श्री विनोदशंकर व्यास

व्यास जी का जन्म सन् १९०१ में काशी में हुआ। आप बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके, पर भगवान् ने आपको एक अनूठी प्रतिभा प्रदान कर रखी है। आप छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने के लिये हिंदी-जगत् में मान्य और सुविख्यात हैं। आप प्रसाद-धारा के कहानीकार हैं। प्रसाद जी की रचनाओं में जो भावपूर्णता और मार्मिकता है वह व्यास जी की कहानियों में भरी हुई है। कई कहानियों में आपने दीन-समाज के दुःखों का वर्णन किया है। प्रायः सभी कहानियों के पात्र और कथानक वास्तविक जीवन से लिये गए हैं। इनमें यथार्थ को लेकर आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। इसी प्रकार की कहानी 'बदला' प्रस्तुत संग्रह में दी गई है। शत्रु से बदला लेना हो तो बुराई की जगह उससे भलाई करो--यही इस कहानी की शिक्षा है। अकाल-पीड़ित मोती का सब कुछ ज़मीदार ने छीन लिया, परन्तु जब वह बम्बई से लखपति होकर लौटा तो उसने पतनोन्मुख ज़मींदार को सब कुछ देकर सर्वनाश से बचा लिया। कहानी बड़ी सुगठित और रोचक है।

व्यास जी के कहानी-संग्रहों में 'नव-पल्लव', 'भूली बात', 'तूलिका', 'धूप-दीप' और 'उसकी कहानी' प्रसिद्ध हैं।

बदला

(१)

देश में अकाल पड़ा। गाँव-देहात उजड़ा हुआ था। दिन अँधेरी रात की तरह भयानक मालूम पड़ता था। लोग दानों के लिये तरसते भूख से छटपटाते और पैसे के लिये रोते थे। ओह! दैव का कितना भीषण परिहास था। आँखें धँस गई थीं, ठोकरें बैठ गई थीं और शरीर निर्बल हो गया था।

गाँव के लोग कहते, कि ईश्वर का कोप है। बरसात आकाश की ओर देखते ही कटी, जाड़ा ठिठरते हुए कटा और गर्मी अब धूप की ज्वाला से कट रही है। कैसा अद्भुत खेल है। सचमुच अकाल था। भूमि अपना सूना आँचल फैलाये बैठी थी।

वह गाँव सिसक रहा था। चन्द्रमा ने झोपड़ियों के उस टिम-टिमाते हुए प्रकाश को चुरा लिया था। चाँदनी अपनी छाया में बैठा-कर उन झोपड़ियों से उसकी कहानी सुनती। सियार बोल रहे थे। सन्नाटा था। रजनी ताँडव-नृत्य देख रही थी।

मोती अपनी उदास झोपड़ी में पड़ा सोचता था। रात आँखों से खूब लड़ी थी। जागते ही कटी। ज़मींदार को मालगुज़ारी देना है। खेत बेदखल हो जायगा। घर उजड़ जायगा, सब समाप्त हो जायगा।

मोती ग़रीब था। सबका ताबेदार, नौकर था। वह अभागा अछूत था।

भैंस, बकरी और बैल तो कर्ज़ में ही नीलाम हो गये थे, खेत भी बेदखल हो गया। झोपड़ी जर्जर हो गई थी। मोती के पास केवल

लाल और सफेद गाय बच गई थी। वह उसे बहुत प्यार करता था। खेत में काम करते हुए जब मोती पुकारता लाली !—वह दौड़ती हुई पहुँचती। पालतू कुत्ते की तरह वह गाय मोती के साथ फिरती। नौ महीने की बछिया थी, तभी से उसने उसको पाला था। इसने मोती को उसका बड़ा मोह था।

सोना को पीहर पहुँचाकर मोती बम्बई जायगा; नौकरी करेगा, पैसा पैदा करेगा, भूखों मरने से बचेगा।

रेल के टिकट के लिये रुपये न थे। मोती लाली को बेचेगा। सोना ने लाली को न बेचने का अनुरोध किया; किन्तु मोती विवश था। रुपये कहाँ से आते ? सब कुछ चला गया था, बच गई थी लाली ! बम्बई के भाड़े के लिये वह भी निकल जायगी।

अत्याचार सहन करते-करते मोती कठोर हो गया था। वह खुद बिक जाता, मगर लाली को न बेचता; किन्तु मोती सब से हाथ धो बैठा था। उसका दिल पत्थर हो गया था।

सोना का बाप एक दूसरे गाँव का चौकीदार था। बस पाँच बीघा भूमि थी। सोना ने वहीं चलकर रहने को कहा था। उसके पिता ने भी इस पर ज़ोर दिया था। किन्तु ससुराल की रोटी तोड़ना मोती को पसन्द न था। वह बड़ी आन का था।

सोना को पीहर पहुँचाकर मोती लौट आया। चलते समय सोना नें आँसू बहाते हुए कहा—"चिट्ठी भेजना और हो सके तो साल छः महीनें में चले आना।"

"ईश्वर की जैसी इच्छा !" कहकर मोती चला आया।

मोती के घर में भगवानदास तिवारी का बड़ा मान था। गाँव में वह बड़े सीधे, सरल ब्राह्मण थे। मोती की लाली उन्हें बड़ी पसन्द थी।

मार्ग में जब कभी देखते तो उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए पुचकारते। मोती जानता था, लाली उनके यहाँ रहेगी। अतएव लाली को लेकर मोती उनके द्वार पर पहुँचा और प्रणाम किया।

उन्होंने पूछा—"कहो मोती, कैसे चले ?"

"महाराज, सब कुछ चला गया, अब मैं भी बम्बई जा रहा हूँ।" मोती ने उत्तर दिया।

"क्या करोगे ? दिन का फेर बड़ा विचित्र होता है। ज़मींदार बड़ा दुष्ट है। अन्धेर-नगरी है। कारिन्दा जो चाहता है, करता है। जमींदार को अपनी मौज से ही फुर्सत नहीं मिलती।"—कहकर तिवारी जी लाली की ओर देखने लगे।

"भाग्य में जो लिखा था, सो हुआ। अब आप लोगों का आशीर्वाद लेकर जाता हूँ। टिकट के रुपये नहीं हैं। लाली को लेकर आया हूँ, २०) रुपये की जरूरत है। लाली आपके यहाँ रहेगी।"—मोती ने बड़ी निराशा से कहा।

"तुम्हारे ऊपर उसे तनिक भी दया न आई, उजाड़कर ही छोड़ा ! कब जाओगे ?"—विचार करते हुए तिवारी जी ने कहा।

"आज ही !"

उन्होंने घर से २०) रुपये लाकर दिये। मोती रुपये लेकर लाली की तरफ़ देखने लगा। लाली भी उसकी ओर देख रही थी। बड़ा करुण दृश्य था। मोती ने लाली के गले में हाथ डालकर उसे चूम लिया, और चला गया।

कुछ दूर जाने पर बाँ...आँ...शब्द सुनाई पड़ा। मोती ने सोचा, लाली पुकार रही है; किन्तु हृदय पर हाथ रखकर यह कहते

हुए चला गया—"लाली तुम्हारे भाग्य से मैं पैसे वाला हो जाता तो...।"

मोती बरबाद हो गया, उजड़ गया !

* * * *

मोती बम्बई पहुँच गया था। वह भौंचक्का होकर शहर देखने लगा। जैसे, किसी भूल-भुलैया में भटकने लगा। देहाती आदमी, किसी से परिचित न था। मोटर की भों-भों और घोड़ा-गाड़ी की हटो-बचो से घबड़ा उठा था। "कहाँ जाय ? क्या करे ? नौकरी कहाँ मिलेगी ?" ये ही प्रश्न बार-बार उठते। कई दिन बीत गये। साहस नहीं होता था, बात कैसे करे ?

सन्ध्या हो चली थो। मोती भूखा था। नौकरी की खोज में वह नगर से कुछ दूर चला आया था। एक जगह खड़ा होकर देखने लगा ! बड़ा भारी हाता था, उसी में गाय-भैंस बँधी थीं। उसने अपनें ही जैसे मैले वस्त्रों में कुछ काम करने वालों को देखा। सलाम बन्दगी हुई। परिचय हुआ। मोती ने अपना अभिप्राय प्रकट किया। उसके प्रति उन लोगों की सहानुभूति हुई। उसी दिन साहब से भेंट हुई, मोती को नौकरी मिल गई।

साहब की 'डेरी' थी। दूध का व्यवसाय होता था। मोती को दूध दुहने का काम मिला था। वह इस काम में निपुण भी था। साहब के सामने उसकी परीक्षा हुई थी।

दिन-पर-दिन बीतने लगे। वह बड़े परिश्रम से अपना कार्य करता। अपने नम्र व्यवहार के कारण सब से हिल-मिल गया था। साहब उससे बड़े प्रसन्न रहते ! उसका विश्वास जमता गया।

सोना का लिखवाया हुआ पत्र मिला था। मोती का हाल पूछा

था, रुपये माँगे थे, और कब आवेगा, यह भी पूछा था।

मोती ने सोना को रुपये भेजे और उत्तर में लिखवाया—"मैं अब बड़े सुख से यहाँ हूँ। साहब के पास रुपया जमा कर रहा हूँ। दूध के व्यवसाय में यहाँ बड़ा लाभ है, मैं अच्छी तरह उसे जान गया हूँ। कुछ दिन नौकरी करके रुपया जमा करूँगा। फिर खुद इसका कारबार करूँगा। बड़ा लाभ होगा, तब तुम को बुला लूँगा।"

(२)

दो वर्ष बीत गए।

दिल्ली से मोती ने गाय और भैंसें मँगवाईं। देखते-देखते उस का भाग्य चमका। सफलता से घनिष्ठता हो चली। दूध-मक्खन और घी बेचता। उस की आँखें खुल गईं। दानों के लिये तरसने वाला मोती अब पैसे जोड़ने लगा।

अपने एक सम्बन्धी के साथ सोना भी बम्बई आई। मोती को अब रोटी का कष्ट न होता। बड़े सुख से दोनों का समय बीतने लगा। मोती दिन-रात अपने काम में व्यस्त रहता, किन्तु सोना को शहर का जीवन पसन्द न आया। रुपयों के लोभ से उसे सन्तुष्ट रहना पड़ा।

दस वर्ष बीत गये।

साहब अपने देश चला गया। मोती ने उसकी डेरी खरीद ली। वह बड़ा व्यवसायी हो गया। लेकिन बम्बई के जलवायु से वह बराबर अस्वस्थ रहता।

सोना ने एक दिन कहा—"तुम दिन-पर-दिन दुबले होते जा रहे हो। अब यहाँ अच्छा भी नहीं लगता। ईश्वर ने बहुत धन दे दिया। चलो अब घर चलें; खेती करेंगे। यहाँ के इस जीवन में

कोई सुख नहीं मालूम होता।"

सोना की इस बात पर मोती कभी-कभी विचार करता। उसके मन में भी बात जम गई। एक दिन उसने भी कहा—चलो, अब यहाँ नहीं रहूँगा। बहुत धन लेकर क्या करना है ? सचमुच वे दिन कितने अच्छे थे, जब दिन भर खेत पर काम करके सन्ध्या समय अपनी झोपड़ी पर लौटते थे। वह तो अब सपना हो गया !

कुछ दिन के बाद मोती ने अपना कारबार बंद कर दिया। एक सेठ के हाथ बेचकर रुपये एकत्रित कर लिये।

सोना ने पूछा—कुल कितना है ?"

मोती ने कहा—एक लाख से कुछ अधिक !

सोना पुतली की तरह मोती की ओर देखने लगी।

दोनों चल पड़े।

(४)

बड़ी सरस सन्ध्या थी। एक युग के बाद मोती घर लौट आया था। उसके खण्डहर पर अब एक सुन्दर मकान बन रहा था। बड़ा परिवर्तन हो गया था। पैसे का प्रभाव था, गाँव के लोग मोती को घेरे बैठे थे। वह अपना वृत्तान्त सुना रहा था। उन्हीं लोगों की बात-चीत से मोती को मालूम हुआ कि जमींदार पतन के मार्ग की सीमा पर पहुँच गया है।

लाली को देखकर मोती दुखी हुआ। वह बूढ़ी हो गई थी। अब दूध नहीं देती थी। उसकी ठठरियाँ निकल आईं थीं। मोती उसी दिन बूढ़े ब्राह्मण को रुपयों से प्रसन्न कर लाली को अपने यहाँ ले आया।

आज गाँव की नीलामी थी। जमींदार की छावनी पर डुग्गी

बज रही थी। बड़े-बड़े महाजन एकत्र हुए थे। विलासिता के पर्दे में छिपा हुआ ज़मींदार अपना नग्न दृश्य देख रहा था।

मोती को भी समाचार मिला। वह बड़ा उदास था। नोटों का बंडल बाँधकर वह निकला। सोना ने समझा मोती नीलाम में गाँव खरीदेगा। गाँव के लोग भी इसका पहले से अनुमान कर रहे थे।

मोती नीलाम की बोली सुन रहा था। पूर्व काल के भयानक दिन उसकी आँखों के सामने फिर गये। इसका हृदय काँपने लगा। सामने ही ज़मींदार आँखें नीची किये बैठा था। मोती अपने को सँभाल न सका, उस ने तत्काल ज़मींदार के चरणों पर नोटों का बंडल रखते हुए कहा—मैं यह दुःख भोग चुका हूँ। भगवान् न करे, किसी को यह दिन देखना पड़े। लीजिये, इससे अपना गाँव बचा लीजिये। इसी तरह मेरा दिन भी न बदलता। आपके कारण ही आज मैं रुपयों को जोड़ सका हूँ। अतएव यह आपका ही है।

ज़मींदार आश्चर्य से उसे देखने लगा।

श्री सियारामशरण गुप्त

गुप्तजी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं। आपका जन्म सन् १८९५ में चिरगाँव (झाँसी) में हुआ। आप बड़ी सादा और गंभीर प्रकृति के सज्जन हैं। आपने स्वाध्याय और तपस्या के बल पर हिन्दी, संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी का उच्च ज्ञान प्राप्त किया है। आपकी प्रतिभा साहित्य के प्रायः सभी अंगों में प्रकट हुई हैं। आपके १३ काव्य-संग्रह, तीन उपन्यास, दो कहानी-संग्रह, एक नाटक, तीन गीति-नाट्य, और एक निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हैं। कहानी-संग्रहों के नाम हैं—'अंतिम आकांक्षा' और 'उन्मादिनी'।

आपकी कहानियों में जीवन की गहन अनुभूति के साथ काव्यमय कल्पना होती है। प्रस्तुत कहानी में मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध बताते हुए एक जीवनादर्श की बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठा की गई है। किसी कोटर में एक चातक रहता था। उसका पुत्र जब प्यास से मरने लगा तो पिता ने न चाहते हुए भी उसे आज्ञा दे दी कि यदि वह घनश्याम की प्रतीक्षा नहीं कर सकता तो वह सुदूरवर्ती मन्दाकिनी का जल पी ले। चातक-पुत्र चल पड़ा। मार्ग में वह एक कुटीर के पास वृक्ष पर बैठा। उसने सुना—एक बूढ़े से उसका पुत्र कह रहा था, "पिता जी, मैंने रुपयों से भरा हुआ बटुआ तो मालिक को लौटा दिया और उसका दिया पुरस्कार तक

नहीं लिया, तो अब भूखों मरना होगा।" चातक-पुत्र ने देखा कि पिता अत्यन्त हर्षित था और वह बेटे से कह रहा था,--"शाबाश बेटा, अपने धर्म और मर्यादा का पालन चातक की तरह करते ही रहना चाहिये।" चातक को इससे ठेस लगी, वह घर लौट आया। बादल बरसे और उसने अपनी प्यास बुझाई।

कोटर और कुटीर

(१)

कोटर

दोपहर का समय था। सूर्य अग्नि-शलाकाओं से पृथ्वी का शरीर दग्ध कर रहा था। वृक्षों के पत्ते निस्पन्द थे। मानो किसी भयंकर काण्ड की आशंका से साँस-सी साधे खड़े थे। इसी समय अपने छोटे-से कोटर के भीतर बैठे हुए चातक-पुत्र ने कहा-- 'पिता'

बाहर की सहज स्निग्ध वनस्थली के वर्तमान रूखेपन की तरह ही वह स्वर कुछ नीरस था। चातक ने अपनी चोंच कुमार की पीठ पर फेरते हुए प्यार से कहा—'क्या है बेटा'

'है और क्या ? प्यास के मारे चोंच तक प्राण आ गये हैं।'

'बेटा, अधीर न हो। समय सदा एक-सा नहीं रहता।'

'तो यही तो मैं भी कहता हूँ—समय सदा एक-सा नहीं रहता। पुरानी बातें पुराने समय के लिए थीं। आप अब भी उन्हें इस तरह छाती से चिपकाए हुए हैं, जिस तरह बानरी मरे बच्चे को चिपकाये रहती है। घनश्याम की बाट जोहते रहिए। अब मुझसे यह नहीं सध सकता।'

'घनश्याम के सिवा हम और किसी का जल ग्रहण नहीं करते। यही हमारे कुल का व्रत है। इस व्रत के कारण अपने गोत्र में न तो किसी की मृत्यु हुई और न कोई दूसरा अनर्थ।''

'आप कहते हैं,-- कोई अनर्थ नहीं हुआ, मैं कहता हूँ, प्यास

की इस यन्त्रणा से बढ़कर और अनर्थ क्या होगा। जहाँ से भी होगा मैं जल ग्रहण करूँगा ही।'

चातक सिहर कर पंख फड़फड़ाने लगा। मानों उसने उन अश्राव्य वचनों और कानों के बीच में कोलाहल की परिखा-सी खड़ी कर देनी चाही। थोड़ी देर तक चुप रह कर वह बोला--बेटा, धैर्य रख। अपने इस व्रत के कारण ही पानी बरसता है और धरती-माता की गोद हरी-भरी होती है। यह व्रत इक तरह नष्ट कर देने की वस्तु नहीं।'

लाड़ले लड़के ने कहा—'व्रत पालन करते हुए इतने दिन तो हो गये, पानी का कहीं चिन्ह तक नहीं है। गरमी ऐसी पड़ रही है कि धरती के नदी-नाले सब सूख गये। फिर सूर्य के और निकट रहने वाले आकाश के मेघों में पानी टिक ही कैसे सकता है ?'

'बेटा, पृथ्वी का यह निर्जल उपवास है। इसी पुण्य से उसे जीवन दान मिलेगा। भोजन का पूरा स्वाद और पूरी तृप्ति पाने के लिए थोड़ी-सी क्षुधा सहन करना अनिवार्य ही नहीं, आवश्यक भी है।'

'पिता जी, मैं थोड़ी सी क्षुधा से नहीं डरता। परन्तु यह भी नहीं चाहता कि क्षुधा ही क्षुधा सहन करता रहूँ। मैं ऐसा व्रत व्यर्थ समझता हूँ। देवताओं का अभिशाप लेकर भी मैं इसे तोड़ूंगा। घनश्याम को भी तो सोचना चाहिए था कि उनके विना किसी के प्राण निकल रहे हैं। आदमी ने मेघों पर अविश्वास करके कृषि की रक्षा के लिए नहर, तालाब और कुओं का वन्दोबस्त कर लिया है। कृषि ने आपकी तरह सिर नहीं हिलाया कि मैं तो घनश्याम के सिवा और किसी का जल नहीं छुऊँगी। हमी क्यों इस तरह कष्ट सहें। आप चाहे मुझे रक्खें या छोड़ें, मैं यह झंझट न मानूंगा।'

चातक ने देखा—'मामला बेढब हुआ चाहता है। यह इस तरह न मानेगा। कहा—'यह बताओ, तुम जल कहाँ से ग्रहण करोगे ?'

चातक-पुत्र चुप। उसने अभी तक इस बात पर विचार ही नहीं किया था। वह सोचता था, जिस प्रकार लाखों जीव-जन्तु जल पीते हैं, उसी प्रकार मैं भी पीऊँगा। परन्तु वह प्रकार कैसा है, यह उसकी समझ में न आया था।

लड़के को चुप देखकर पिता ने समझा—कमजोरी यही है। वह जानता था कि कमज़ोरी पर ऊपर से ही आक्रमण करना विजय की पहिली सीढ़ी है। बोला—'चुप कैसे रह गये ? बताओ, तुम जल कहाँ से ग्रहण करोगे ?'

हिचकिचाकर—अपनी बात स्वयं ही खण्ड-खण्ड करते हुए—लड़के ने कहा—'जहाँ से और दूसरे ग्रहण करते हैं, वहीं से मैं भी करूँगा।'

पिता ने कहा—'पड़ोस में वह पोखरी है। अनेक पशु-पक्षी और आदमी भी वहाँ जल पीते हैं। तुम वहाँ जल पी सकोगे ? बोलो है हिम्मत ?'

चातक-पुत्र को उस पोखरी के स्मरण से ही फुरहटी आ गई। अह, उसमें कितनी गंदगी है ! पत्ते, सूखी डंठले आदि गिर-गिर कर उसमें सड़ती रहती हैं। कीड़े कुलबुलाते हुए उसमें साफ़ दिखाई दे सकते हैं। लोग उसमें कपड़े निखारने आते हैं या गन्दे करने; कई बार सोचने पर भी वह समझ न सका था। एक बार एक आदमी को अंजलि से पानी पीते देख उसने पिता से कहा था—देखो पिता जी, ये कैसे घृणित जीव हैं अवश्य ही उसने अपने व्रत का ज़िक्र उस समय नहीं किया था, परन्तु उसके मन में उसी का गर्व छलक

उठा था। अब इस समय वह पिता से कैसे कहे कि मैं उस पोखरी का पानी पिऊँगा।

चातक बोला—'बेटा, अभी तुम नासमझ हो। चाहे जहाँ से पानी ग्रहण करना इस समय तुम आसान समझ रहे हो। परन्तु जब इसके लिए बाहर निकलोगे तब तुम्हें मालूम पड़ेगा। हमारी प्यास के साथ करोड़ों की प्यास है और तृप्ति के साथ करोड़ों की तृप्ति। तुझसे अकेले तृप्ति होते कैसे बनेगा?'

चातक-पुत्र इस समय अपने हठ को पुष्ट करने वाली कोई युक्ति सोच रहा था। पिता की बात बिना सुने वह बोल उठा—मैं गंगा-जल ग्रहण करूँगा।'

चातक ने कहा—'गंगा जी तो यहाँ से पाँच दिन की उड़ान पर हैं। तू नहीं मानता तो जा। परन्तु यदि तूने और कहीं एक बूँद भी ली तो हमें मुँह न दिखाना।'

चातक-पुत्र प्रणाम करके फर्र से उड़ गया।

(२)

कुटीर

बुद्धन का कच्चा खपरैल का घर था। छोटी-छोटी दो कोठियाँ फिर उन्हीं के अनुरूप आँगन और उसके आगे पौर। पुराना छप्पर नीचे झुककर घर के भीतर आश्रय लेने की बात सोच रहा था।'

जीर्ण-शीर्ण दीवारें रोशनदान न होने की साध दरारों के 'दन्तक' से पूरी किया चाहती थीं।

उस घर में और कुछ हो या न हो, आँगन के बीच, चातक-पुत्र के विश्राम करने योग्य नीम का एक वृक्ष था। तीसरी उड़ान की थकान मिटाने के लिए वह उसी पर उतरा।

नीम की स्निग्धता तथा सघनता ने चातक-पुत्र को अपने निजी सहकार की याद दिला दी। विश्राम पाकर भी उसके जी में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न हो गई। पकी निबौरी की तरह उस वेदना में भी कुछ माधुर्य था।

नीचे वृक्ष की छाया में बुद्धन लेटा हुआ था। अवस्था उसकी पचास के ऊपर थी। फिर भी अभी कुछ दिन पहले तक, उसके पैरों में जीवन-यात्रा की इतनी ही मंजिल तय करने के योग्य शक्ति और मालूम होती थी। एक दिन एकाएक पक्षाघात ने उसे अचल कर दिया। जीवन और मृत्यु ने आपस में सुलह करके मानों आधे-आधे शरीर का बटवारा कर लिया। स्त्री पहिले ही गत हो चुकी थी। घर में १५-१६ वर्ष का एक मात्र पुत्र, गोकुल ही अवशिष्ट था। उसी के सहारे उसके दिन पूरे हो रहे थे।

गोकुल एक जगह काम पर जाता था। काम करके प्रतिदिन संध्या समय तक लौट आता था। आज अभी तक नहीं आया था। इसलिए बुद्धन उसके लिए छटपटा रहा था। ऊपर आकाश में तारे छिटक आये थे। इधर-उधर चारों ओर सन्नाटा था। और घर में अकेला बुद्धन। यद्यपि उसमें खाट के नीचे तक उतरने की शक्ति नहीं थी, तो भी उसका मन न जाने कहाँ-कहाँ चौकड़ी भर रहा था। गोकुल सवेरे थोड़े से चने खाकर काम कर गया था। बुद्धन के लिए भी थोड़े से चनें और पीने का पानी यथा-स्थान रख गया था। आज खाने के लिए घर में और कुछ था ही नहीं। कह गया था, शाम को मजूरी के पैसों का आटा लाकर रोटी बनाऊँगा। परन्तु आज वह अभी तक नहीं आया था। अनेक आशंकाओं से बुद्धन का मन चंचल हो उठा। जो समय आनन्द की स्निग्ध-शीतल-छाया में शीतकाल के दिन की तरह, मालूम भी नहीं होनें पाता और निकल जाता है, वही दुःख का दाहक ज्वाला में

निदाघ के दीर्घ दिनों की भाँति अकाट्य हो उठता है। रात बहुत नहीं बीती थी, परन्तु बुद्धन को मालूम हो रहा था कि बरसों का समय हो गया। बार-बार अपने कान खड़े करके रात के उस सन्नाटे में वह गोकुल के पद-शब्द सुनने का प्रयत्न कर रहा था।

बड़ी देर बाद उसकी प्रतीक्षा सफल हुई। किवाड़ खुलने की आवाज़ सुन कर वह चौंका। वास्तव में यह गोकुल ही था। उसने कहा—'कौन, गोकुल! बेटा, आज बड़ी देर लगाई।'

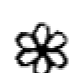
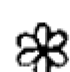
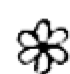
गोकुल धीरे से पिता की खाट के पास आकर रोने लगा।

बुद्धन ने घबरा कर पूछा—'क्या हुआ, बेटा। क्या हुआ?'

'आज मजदूरी नहीं मिली! अब कैसे चलेगा?'

'ऐं मजदूरी नहीं मिली!' फिर इतनी देर क्यों हुई?'

प्रकृतिस्थ होकर गोकुल ने उसे अपना हाल सुनाया।

सवेरे घर से निकलते ही गोकुल को सामने खाली घड़ा मिला। देख कर उसके पैर ढीले पड़ गये। सोचा—आज भगवान् ही मालिक है। काम पर पहुँच कर उसने देखा—इन्जिनियर साहब काम देखने आये थे। जान पड़ता है, काम देखने की जगह वे ओवरसियर साहब को ही देख गये थे। अन्याय का यह बोझा उन्होंने दिन भर मज़दूरों पर अच्छी तरह उतारा। शाम को मज़दूरी देने के समय भी साफ इन्कार कर दिया—आज दाम नहीं दिये जायँगे। उस अदालत के फैसले की तरह, जिसकी कहीं अपील नहीं हो सकती, ओवरसियर साहब का हुक्म मान कर मज़दूर अपने अपने घर लौट गये।

गोकुल लौटा चला आ रहा था कि एक जगह उसे रास्ते में कुछ पड़ा दिखाई दिया। पास पहुँचने पर मालूम हुआ—रुपये-पैसे रखने

का बटुआ है। उठा कर देखा तो काफी वजनदार था। वह सोच में पड़ गया--इसे खोल कर देखना चाहिये या नहीं। न देखने का निश्चय ही उसे दृढ़ करना पड़ा। कौतूहल-निवृत्ति करने के लिए उसने उसे टटोला। टटोलने पर मालूम हुआ--रुपये हैं और बहुत कम भी नहीं। थोड़ी देर तक वह वहीं खड़ा-खड़ा सोचता रहा--इसका क्या करूँ? उसके पिता ने उसे अब तक जो कुछ सिखाया था, उसने उसे इस बात के सोचने का अवसर नहीं दिया कि बटुआ अपने पास रख ले। वह यही सोच रहा था कि यह बटुआ किसका है? जब उसे मालूम होगा कि उसका बटुआ खो गया है तब उसकी क्या दशा होगी? रुपये-पैसे का क्या मूल्य है, यह बात वह कुछ दिनों में ही अच्छी तरह जान गया था। उस व्यक्ति की उस समय की दशा का विचार करके वह इस प्रकार सिहर उठा, मानो उसी का बटुआ खो गया हो!

उसे ध्यान आया कि कुछ दूर उसने एक गाड़ी जाती हुई देखी थी। उस पर कान में मोती-पिरोई सोने की बाली पहने हुये एक महते बैठे थे। सम्भव है, यह बटुआ उन्हीं का हो। और किसी के पास इतने रुपये होना आसान भी नहीं है। यहाँ कुएँ पर गाड़ी रोक कर उन्होंने पानी पिया होगा और आग जला कर तमाखू भरी होगी। एक जगह आग जलाई जाने के चिन्ह मौजूद थे। उसने इस बात का विचार ही नहीं किया कि गाड़ी तक जाने में कितना समय लगेगा और वह दौड़ पड़ा।

लगभग आधे घंटे के परिश्रम से वह उस गाड़ी के पास पहुँच गया। गोकुल ने हाँफते हाँफते पूछा--महते, तुम्हारा कुछ खो तो नहीं गया?

महते ने चौंक कर गाड़ी में इधर-उधर देखा। साथ ही जेब पर हाथ रखा तो पाषाण की तरह निस्पन्द हो गए। गोकुल से महते की

वह अवस्था देखी न गई। वह बटुआ दिखा कर उसने झट से प्रश्न कर दिया—'यह तुम्हारा है ?'

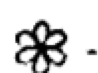
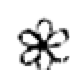
एक क्षण में ही जीवन और मृत्यु का द्वन्द्व-सा हो गया। मानो बिजली के खटके से प्रकाश बुझा कर घर फिर से उद्दीप्त कर दिया गया हो, महते ने कहा—भगवान् तुझे सुखी रक्खें भैया ! इसे कहाँ पाया ?

'रास्ते में पड़ा था। इसमें कितने रुपये हैं ?'

महते ने हिसाब लगा कर बताया—बयालीस रुपये, एक अठन्नी, एक घिसी हुई बेकार दुअन्नी, दस बारह आने पैसे, एक चांदी का ल्ला——

गोकुल ने बटुआ खोल कर रुपये गिने। सब ठीक निकले। बटुआ हाथ में लेकर महते की आँखों में आँसू भर आये। बोले—— इतनी बड़ी रकम पाकर भी जिसे उसका लोभ न हो, भैया, मैंने ऐसा आदमी आज तक नहीं देखा। यदि किसी और को यह बटुआ मिलता तो मेरा मरण हो जाता। मेरा रोम-रोम अशीश दे रहा है, भगवान् तुम्हें सदा सुखी रक्खे। यह कह कर महते ने बटुए से निकाल कर दो रुपए देने चाहे। उसने सिर हिला कर कहा—मेरे बाप्पा ने किसी से भीख लेने के लिए मुझे मना कर दिया है। मुफ़्त के ये रुपए मैं न लूंगा।

महते के सजल नेत्र विस्मय से खुले ही रह गये। गोकुल थोड़ी ही देर में उस अंधकार में उनकी आँखों से ओझल हो गया।

सब वृत्तान्त सुना कर गोकुल अपराधी की भाँति खड़ा होकर बोला—बप्पा, आज खाने के लिए कुछ नहीं है। महते से कुछ उधार

माँग लाता तो सब ठीक हो जाता। मेरी समझ में यह बात उस समय आई ही नहीं।

बुद्धन की आँखों से झर-झर आँसू झरने लगे। गोकुल को अपनी दोनों भुजाओं में भर कर उसने छाती से लगा लिया। आनन्दातिरेक ने उसका कण्ठावरोध कर दिया। उसे मालूम हुआ कि उसके क्षुधित और निर्जीव शरीर में प्राणों का संचार हो गया है। उसे जिस तृप्ति का अनुभव होने लगा वह दो-एक दिन की तो बात ही क्या, जीवन भर की क्षुधा शान्त कर सकती है। धन-सम्पत्ति, मान और बड़ाई सब उसे तुच्छ-से प्रतीत होने लगे। मानो एकाएक उसके सब दुःख रोग दूर हो गये हैं। अब वह बिना किसी चिन्ता के मृत्यु का आलिंगन इसी क्षण कर सकता है।

बड़ी देर में अपने को सम्भाल कर बुद्धन बोला—अच्छा ही किया बेटा, जो तू महते से रुपया उधार नहीं लाया। वह उधार माँगना भी एक तरह का माँगना ही होता। भगवान् ने तुझे ऐसी बुद्धि दी है, मैं तो यही देख कर निहाल हो गया। दो-एक दिन की भूख हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। जिस तरह चातक अपने प्राण देकर भी मेघ के सिवा किसी दूसरे का जल लेने का व्रत नहीं तोड़ता, उसी तरह तू भी ईमानदारी की टेक न छोड़ना! मुझे मालूम हो गया-यह तू मुझ से भी अच्छी तरह जानता है। फिर भी कहता हूँ—सदा ऐसी ही मति रखनी चाहिए जितनी बड़ी विपत्ति पड़े, अपनी नीयत न डुलाना।

ऊपर चातक-पुत्र सुन रहा था। उसकी आँखों से भी झर-झर आँसू झरने लगे। बड़ी कठिनता से वह रात बिता सका। पौ फटते ही बड़े सवेरे वह फिर उड़ा। परन्तु आज वह विपरीत दिशा को

चला, उसी दिशा को जिधर से वह आया था। उसकी उड़ान पहले से तेज़ हो गई थी। फिर भी अपने कोटर तक पहुँचने में उसे चार दिन की जगह सात दिन लग गये। दूसरे दिन से ही मेघों ने उठ कर ऐसी झड़ी लगा दी कि बीच बीच में कई जगह रुक कर ही वह वहाँ तक पहुँच सका।

श्री भगवतीचरण वर्मा

वर्माजी का जन्म उन्नाव जिला के अन्तर्गत शफीपुर ग्राम में सन् १६०३ ई० में हुआ था। आपने कानपुर में रहकर एफ. ए. तक शिक्षा प्राप्त की, वहाँ से आकर प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए., एल-एल. बी. किया। पहले आप वकालत करते रहे, बाद में साहित्यिक कार्यों में लग गये। आजकल आप आल इंडिया रेडियो लखनऊ में हिन्दी कार्यक्रमों का संचालन करते और 'उत्तरा' नाम की पत्रिका का सम्पादन करते हैं।

वर्माजी की प्रतिभा बहुमुखी है। आपने हिन्दी में उपन्यास, काव्य तथा कहानियों की रचना की है और नाटक भी लिखे हैं। उपन्यासों में 'पतन', 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' प्रसिद्ध हैं। कहानी-संग्रह 'इंस्टालमेंट' और 'दो बांके' नाम से प्रकाशित हैं।

आपकी कहानियाँ मौलिक और शिक्षाप्रद होती हैं। सजीवता आपकी कहानियों का विशेष गुण है। चलती हुई मुहावरेदार भाषा में अत्यन्त मनोरंजक और सरस कहानी कहने में आपको बड़ी सफलता मिली है। पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आप उत्तम ढंग से करते हैं। छोटी-सी घटना को लेकर आप एक सुन्दर कथा-भवन का निर्माण करते हैं। प्रस्तुत कहानी में अन्ध-

विश्वास पर व्यंग्य किया गया है। इसमें अनपढ़ पंडितों और ज्योतिषियों को अच्छा चरका दिखाया गया है। पंडित जी का बड़े परिश्रम से खड़ा किया गया ढोंग बिल्ली के उठ जाने पर बुरी तरह खुल जाता है।

प्रायश्चित्त

अगर कबरी बिल्ली घर भर में किसी से प्रेम करती थी तो रामू की बहू से, और रामू की बहू घर भर में किसी से घृणा करती थी तो कबरी बिल्ली से। रामू की बहू को दो महीना हुआ मायके से प्रथम बार ससुराल आई थी, पति की प्यारी और सास की दुलारी, चौदह वर्ष की बालिका। भंडार-घर की चाभी उसकी करधनी में लटकने लगी, नौकरों पर उसका हुकुम चलने लगा, और रामू की बहू घर भर में सब कुछ, सास जी ने माला ली और पूजा-पाठ में मन लगाया।

लेकिन ठहरी चौदह वर्ष की बालिका। कभी भंडार-घर खुला है, तो कभी भंडार-घर में बैठे-बैठे सो गई। कबरी बिल्ली को मौका मिला, घी-दूध पर अब वह जुट गई। रामू की बहू की जान आफ़त में और कबरी बिल्ली के छक्के-पंजे। रामू की बहू हांडी रखते-रखते ऊँघ गई और बचा हुआ घी कबरी के पेट में। रामू की बहू दूध ढककर मिसरानी को जिन्स देने गई और दूध नदारद। अगर यह बात यहीं तक रह जाती तो भी बुरा न था। कबरी रामू की बहू से कुछ ऐसा परच गई कि रामू की बहू के लिए खाना-पीना दुश्वार। रामू की बहू के कमरे में रबड़ी से भरी हुई कटोरी पहुँची और रामू जब आये तब कटोरी साफ़ चटी हुई। बाजार से मालाई आई और जब तक रामू की बहू ने पान लगाया, मालाई ग़ायब। रामू की बहू ने तै कर लिया कि या तो वही घर में रहेगी या कबरी बिल्ली ही। मोरचा-बन्दी हो गई और दोनों सतर्क। बिल्ली फँसाने का कटघरा आया। उसमें दूध मालाई, चूहे और बिल्ली को स्वादिष्ट लगने वाले विविध प्रकार के व्यंजन रखे गये, लेकिन बिल्ली ने उधर

निगाह तक न डाली। इधर कबरी ने सरगर्मी दिखलाई। अभी तक तो वह रामू की बहू से डरती थी, पर अब वह साध गई, लेकिन इतने फासले पर कि रामू की बहू उस पर हाथ न लगा सके।

कबरी के हौसले बढ़ जाने से रामू की बहू को घर में रहना मुश्किल हो गया। उसे मिलती थी सास की मीठी झिड़कियाँ और पतिदेव को रूखा-सूखा भोजन।

एक दिन रामू की बहू ने रामू के लिए खीर बनाई। पिस्ता, बादाम, मखाने और तरह-तरह के मेवे दूध में औटे गये, सोने का वर्क चिपकाया गया और खीर से भरकर कटोरा कमरे के एक ऐसे ऊँचे ताक पर रखा गया, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। रामू की बहू इसके बाद पान लगाने में लग गई।

उधर कमरे में बिल्ली आई, ताक के नीचे खड़े होकर उसने ऊपर कटोरे की ओर देखा, सूंघा, माल अच्छा है, ताक की ऊँचाई अन्दाजी और रामू की बहू पान लगा रही है। पान लगा कर रामू की बहू सास जी को पान देने को चली गई, और कबरी ने छलाँग मारी, पँजा कटोरे में लगा और झन-झनाहट की आवाज के साथ फर्शपर।

आवाज़ रामू की बहू के कान में पहुँची, सास के सामने पान फेंक कर वह दौड़ी, क्या देखती है कि फूल का कटोरा टुकड़े-टुकड़े और खीर फर्श पर और बिल्ली डटकर खीर उड़ा रही है। रामू की बहू को देखते ही कबरी चम्पत।

रामू की बहू पर खून सवार हो गया, न रहे बांस न बजे बांसुरी। रामू की बहू ने कबरी की हत्या पर कमर कस ली। रात भर उसे नींद नहीं आई, किस दांव से कबरी पर वार किया जाय कि फिर ज़िन्दा न बचे, यही पड़े-पड़े सोचती रही। सुबह हुई और वह देखती

है कि कबरी देहरी पर बैठी बड़े प्रेम से उसे देख रही है।

रामू की बहू ने कुछ सोचा, इससे बाद मुस्कराती हुई वह उठी, कबरी रामू की बहू के उठते ही खिसक गई। रामू की बहू एक कटोरा दूध कमरे के दरवाजे की देहरी पर रख कर चली गई। हाथ में पाटा लेकर लौटी तो वह देखती है कि कबरी दूध पर जुटी हुई है। मौका हाथ में आ गया। सारा बल लगा कर पाटा उसने बिल्ली पर पटक दिया। कबरी न हिली न डुली, न चीखी न चिल्लाई, बस एकदम उलट गई।

आवाज़ जो हुई तो महरी झाड़ू छोड़कर, मिसरानी रसोई छोड़कर और सास पूजा छोड़कर घटनास्थल पर उपस्थित हो गई। रामू की बहू सर झुकाये हुए अपराधिनी की भाँति बातें सुन रही है।

महरी बोली--अरे राम बिल्ली तो मर गई। माँ जी बिल्ली की हत्या बहू से हो गई, यह तो बुरा हुआ।

मिसरानी बोली--माँ जी, बिल्ली की हत्या और आदमी की हत्या बराबर है। हम तो रसोई न बनावेंगी, जब तक कि बहू के सिर हत्या रहेगी।

सास जी बोली--हाँ, ठीक कहती हो, अब जब तक बहू के सिर से हत्या न उतर जाय, तब तक न कोई पानी पी सकता है, न खाना खा सकता है। बहू, यह क्या कर डाला।

महरी ने कहा–फिर क्या हो, कहो तो पंडित जी को बुला लाऊँ।

सास की जान में जान आई--अरे हाँ, जल्दी दौड़ कर पंडित जी को बुला ला।

बिल्ली की हत्या की खबर बिजली की तरह पड़ोस मे फैल गई। पड़ोस की औरतों का रामू के घर में ताँता बँध गया। चारों तरफ़ से प्रश्नों की बौछार और रामू की बहू सिर झुकाये बैठी।

पंडित परमसुख को जब यह खबर मिली उस समय वे पूजा कर रहे थे। खबर पाते ही वे उठ पड़े--पंडिताइन से मुस्कराते हुए बोले-- भोजन न बनाना। लाला घासीराम की पतोहू ने बिल्ली मार डाली। प्रायश्चित्त होगा। पकवानों पर हाथ लगेगा।

पंडित परमसुख चौबे छोटे-से मोटे-से आदमी थे। लम्बाई चार फीट दस इंच और तोंद का घेरा अट्ठावन इंच। चेहरा गोल-मटोल, मूँछ बड़ी-बड़ी, रंग गोरा, चोटी कमर तक पहुँचती हुई।

कहा जाता है कि मथुरा में जब पसेरी खुराक वाले पंडितों को ढूंढ़ा जाता था तो पंडित परमसुख जी को इस लिस्ट में प्रथम स्थान दिया जाता था।

पंडित परमसुख पहुँचे, और कोरम पूरा हुआ। पंचायत बैठी-- सास जी, मिसरानी, किसनू की माँ, छन्नू की दादी और पंडित परमसुख! बाकी स्त्रियाँ बहू से सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।

किसनू की माँ ने कहा—पंडित जी, बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है?

पंडित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा—बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता, वह महूरत भी जब मालूम हो जाय जब बिल्ली की हत्या हुई, तब नरक का पता लग सकता है।

'यह कोई सात बजे सुबह'।—मिसरानी जी ने कहा।

पंडित परमसुख ने पन्ने के पन्ने उलटे, अक्षरों पर अंगुलियाँ चलाईं, मत्थे पर हाथ लगाया और कुछ सोचा। चेहरे पर धुंधलापन आया। माथे पर बल पड़े, नाक कुछ सिकुड़ी और स्वर गंभीर हो गया, हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्रह्म-

मुहूर्त्त में बिल्ली की हत्या, घोर कुम्भीपाक नरक का विधान ! रामू की माँ, यह तो बड़ा बुरा हुआ।

रामू की माँ की आँखों में आँसू आ गये—तो फिर पंडित जी, अब क्या होगा, आप ही बतायें ?

पंडित परमसुख मुस्कराये—रामू की माँ, चिन्ता की कौन-सी बात है, हम पुरोहित फिर कौन दिन के लिए हैं ? शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है, सो प्रायश्चित्त से सब कुछ ठीक हो जायगा।

रामू की माँ ने कहा—पंडित जी, उसी लिए तो आपको बुलवाया था, अब आगे बतलाओ कि क्या किया जाय ?

'किया क्या जाय—यही एक सोने की बिल्ली बनवा कर बहू से दान करवा दी जाय—जब तक बिल्ली न दे दी जायेगी तब तक तो घर अपवित्र रहेगा, बिल्ली दान देने के बाद इक्कीस दिन का पाठ हो जाय।'

छन्नू की दादी—हाँ, और क्या, पंडित जी तो ठीक कहते हैं, बिल्ली अभी दान दे दी जाय और पाठ फिर हो जाय।

रामू की माँ ने कहा—तो पंडित जी कितने तोले की बिल्ली बनवाई जाय ? पंडित जी परमसुख मुस्कराये, अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा—बिल्ली कितने तोले की बनवाई जाय, अरे रामू की माँ, शास्त्रों में तो लिखा है कि बिल्ली के वजन भर सोने की बिल्ली बनवाई जाय। लेकिन अब कलियुग आ गया है, धर्म कर्म का नाश हो गया है, श्रद्धा नहीं रही। सो रामू की माँ बिल्ली की तौल भर की बिल्ली तो क्या बनेगी, क्योंकि बिल्ली बीस-इक्कीस सेर से कम की क्या होगी, हाँ, कम से कम इक्कीस तोलें की बिल्ली बनवा,

कर दान करवा दो, और आगे तो अपनी-अपनी श्रद्धा! रामू की माँ ने आँखें फाड़ कर पंडित परमसुख को देखा—अरे बाप रे! इक्कीस तोला सोना। पंडित जी, यह तो बहुत है, तोला भर की बिल्ली से काम न निकलेगा?

पंडित परमसुख हँस पड़े—रामू की माँ! एक तोला सोना की बिल्ली! अरे रुपए का लोभ बहू से बढ़ गया? बहू के सिर बड़ा पाप है—इसमें इतना लोभ ठीक नहीं!

मोल-तोल शुरू हुआ और मामला ग्यारह तोले की बिल्ली पर ठीक हो गया।

इसके बाद पूजा-पाठ की बात आई। पंडित परमसुख ने कहा—उसमें क्या मुश्किल है हम लोग किस दिन के लिए हैं। रामू की माँ, मैं पाठ कर दिया करूँगा, पूजा की सामग्री आप हमारे घर भेजवा देना।

'पूजा का सामान कितना लगेगा?'

'अरे कम से कम सामान में हम पूजा कर देंगे, दान के लिए करीब दस मन गेहूँ, एक मन चावल, एक मन दाल, मन-भर तिल, पांच मन जौ, और पाँच मन चना, चार पसेरी घी, और मन-भर नमक भी लगेगा। बस इतने में काम चल जायगा।'

'अरे बाप रे! इतना सामान, पंडित जी, इसमें तो सौ-डेढ़ सौ रुपया खर्च हो जायगा।'—रामू की माँ ने रुआसी होकर कहा।

'फिर इससे कम में तो काम न चलेगा। बिल्ली की हत्या कितना बड़ा पाप है, रामू की माँ! खर्च को देखते वक्त पहिले बहू के पाप को तो देख लो! यह तो प्रायश्चित्त है, कोई हँसी-खेल थोड़े ही है—और जैसी जिसकी मर्यादा, प्रायश्चित्त में उसे वैसा खर्च भी करना

पड़ता है। आप लोग कोई ऐसे-वैसे थोड़े हैं, अरे सौ-डेढ़ सौ रुपया आप लोगों के हाथ का मैल है।

पंडित परमसुख की बात से पंच प्रभावित हुए, किसनू की माँ ने कहा--पंडित जी ठीक तो कहते हैं, बिल्ली की हत्या कोई ऐसा-वैसा पाप तो है नहीं-बड़े पाप के लिए बड़ा खर्च भी चाहिए।

छन्नू की दादी नें कहा--ग्रौर नहीं तो क्या, दान-पुन्न से ही पाप कटते हैं। दान-पुन्न में किफायत ठीक नहीं।

मिसरानी ने कहा--और फिर माँ जी, आप लोग बड़े आदमी ठहरे। इतना खर्च कौन आप लोगों को अखरेगा।

रामू की माँ ने अपने चारों ग्रोर देखा--सभी पंच पंडित जी के साथ। पंडित परमसुख जी मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा-रामू की माँ, एक तरफ तो बहू के लिए कुम्भीपाक नरक है और दूसरी तरफ तुम्हारे जिम्मे थोड़ा-सा खर्च है। सो इससे मुंह न मोड़ो।

एक ठंडी साँस लेते हुए रामू की माँ ने कहा, अब तो जो नाच नचावोगे, नाचना ही पड़ेगा।

पंडित परमसुख ज़रा कुछ बिगड़ कर बोले--रामू की माँ! यह तो खुशी की बात है, अगर तुम्हें यह अखरता है तो न करो--मैं चला।' इतना कह कर पंडित जी ने पोथी-पत्रा बटोरा।

'अरे पंडित जी, रामू की माँ को कुछ नहीं अखरता, बेचारी को कितना दुःख है--बिगड़ो न'--मिसरानी, छन्नू की दादी ग्रौर किसनू की माँ ने एक स्वर में कहा।

रामू की माँ ने पंडित जी के पैर पकड़े--ग्रौर पंडित जी ने अब जमकर आसन जमाया।

"ग्रौर क्या हो?"

'इक्कीस दिन के पाठ के इक्कीस रुपये और इक्कीस दिन तक दोनों वखत पाँच-पाँच ब्राह्मणों को भोजन करवाना पड़ेगा।'--कुछ रुक कर पंडित परमसुख ने कहा--'सो इसकी चिन्ता न करो मैं अकेले दोनों समय भोजन कर लूँगा और मेरे अकेले भोजन करने से पाँच ब्राह्मणों के भोजन का फल मिल जायगा।'

'यह तो पंडित जी ठीक कहते हैं, पंडित जी की तोंद तो देखो'-मिसरानी ने मुस्कराते हुए पंडित जी पर व्यंग किया।

'अच्छा तो फिर प्रायश्चित्त का प्रबन्ध करवाओ रामू की माँ, ग्यारह तोला सोना निकालो, मैं उसकी बिल्ली बनवा लाऊँ-दो घंटे में मैं बनवा कर लौटूंगा तब तक सब पूजा का प्रबन्ध कर रक्खो-और देखो, पूजा के लिए.....

पंडित जी की बात खत्म भी न हुई थी कि महरी हाँफती हुई कमरे में घुस आई और सब लोग चौंक उठे। रामू की माँ ने घबरा कर कहा-अरी क्या हुआ री !

महरी ने लड़खड़ाते स्वर में कहा-माँ जी, बिल्ली तो उठ कर भाग गई।



स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान

आपका जन्म सन् १६१२ में प्रयाग में और देहान्त सन् १६४८ में जबलपुर के निकट एक मोटर-दुर्घटना से हुआ। आपके पति ठाकुर लक्ष्मणसिंह जी चौहान जबलपुर (मध्य-प्रदेश) के एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। स्वर्गीय देवी जी भी देश-कार्यों में लगी रहती थीं। कई बार जेल गईं। आप मध्यप्रदेश की एसेम्बली की मेम्बर भी थीं।

श्रीमती सुभद्राकुमारी कवि भी थीं और कहानीकार भी। 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' नाम के दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हैं। कहानियों में आपने महिलाओं की माँगों को उठाया है और क्रूर पुरुष द्वारा पद-दलित नारी-हृदय का दिग्दर्शन कराया है। 'वेश्या की लड़की' आप के उद्देश्य को पूर्ण रूप से प्रकट करती है। इस कहानी में एक सामाजिक समस्या उपस्थित की गई है। प्रमोद, विरोधी समाज के वक्र भाव की परवा न कर, एक वेश्या की लड़की 'छाया' से विवाह तो कर लेता है परन्तु जनप्रवाद के प्रबल वेग में बहकर उसे घृणित मानने लगता है। सती-साध्वी छाया को आत्म-हत्या करनी पड़ती है। कहानी बड़ी मर्मान्तिक और समाज के ठेकेदारों के लिए शिक्षाप्रद है। छाया का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सुन्दर हुआ है।

यह कहानी समाज-सुधार तथा लोक-कल्याण को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। इससे लेखिका की मनस्विता, मृदु प्रकृति और सहानुभूति का परिचय मिलता है।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार का जन्म सन् १६०६ ई० में कोट अद्दू (पश्चिमी पंजाब) में हुआ। पंजाब के बँटवारे से पहले आप लाहौर में रहते थे। आजकल दिल्ली में हैं। पहले 'विश्वदर्शन' का सम्पादन करते थे, इस समय 'आजकल' के सम्पादक-मण्डल में हैं। आप बड़े गम्भीर विचारक, अँग्रेज़ी-फ्रांसीसी, संस्कृत-हिन्दी आदि भाषाओं के अच्छे विद्वान् और कहानीकार होने के अतिरिक्त सफल निबन्ध-लेखक और आलोचक भी हैं। आपकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—अमावस, भय का राज, चन्द्रकला आदि।

चन्द्रगुप्त जी बड़े परिश्रम से कहानी का बाह्य और आन्तरिक रूप सजाकर प्रस्तुत करते हैं। आपका कहानी कहने का ढंग अनूठा और कलापूर्ण होता है। साथ ही उसका प्रभाव भी मर्मस्पर्शी होता है। आपकी भाषा सरल और भाव ऊँचे होते हैं।

प्रस्तुत कहानी जीवन के एक सामयिक सत्य की व्यंजना करती है। लेखक ने तीन पृथक् चित्र तीन पृथक् कहानियों के रूप में उपस्थित किये हैं और उन तीनों में ऐसा जान पड़ता है कि काम-काज के पीछे मानवता रह ही नहीं गई। आज का मनुष्य

अपने काम-धन्धे में इतना रत है कि उसमें ममता, दया और सहानुभूति का स्रोत ही सूख गया है। तीनों चित्र भावमय और सजीव हैं। इनके द्वारा लेखक ने शहरी जीवन पर बड़ा तीखा और गहरा व्यंग्य किया है।

काम-काज

(१)

बाज़ार-भर में तहलका-सा मच गया। अधेड़ उम्र के एक सज्जन अपने एक नौजवान रिश्तेदार के सहारे अनारकली बाज़ार के बीचों-बीच चले जा रहे थे। उनकी एक बाँह बँधी हुई थी, कपड़े मैले हो गये थे और मालूम होता था कि बहुत दिनों से वे हजामत नहीं बना पाये। इन सज्जन की आँखों में इतनी गहरी निराशा और असीम व्यथा का भाव अंकित था कि देखने वाले सहम कर रह जाते थे। उनके पीछे-पीछे चालीस-पचास व्यक्ति चुप-चाप चले जा रहे थे। क्वेटा के भूकम्प से बचे हुए या आहत व्यक्तियों का पहला बैच आज लाहौर पहुँचा था, और इसमें सबसे सम्भवतः यही एक ऐसे सज्जन थे, जो पैदल चलने लायक बच रहे थे।

लाला कस्तूरीमल अपनी दुकान में खड़े होकर नये आने वाले कपड़ों के नमूनों की जाँच-पड़ताल कर रहे थे। उनकी निगाह दूर से आते हुए उस मातमी-से मजमे पर पड़ी; मगर उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। दो-एक मिनट में वह सज्जन लाला कस्तूरीमल की दुकान के सामने जा पहुँचे और उन्होंने अपने साथ के नौजवान से कहा—'बेटा, मुझे दो-एक कपड़े न खरीद दोगे ?'

मैं भी आपसे यही प्रार्थना करने वाला था।—कहकर वह नवयुवक उन्हें लाला कस्तूरीमल की दुकान के भीतर ले गया। साथ का सारा मजमा दुकान के बाहर रुक गया।

लाला कस्तूरीमल की दुकान पर सेल्समैनों की कमी नहीं है; मगर इन सज्जनों की मैली-कुचैली हो रही आकृति में भी कुछ ऐसा आकर्षण था कि लाला साहब ने आगे बढ़कर उनका स्वागत करते

हुए पूछा--'कहिये क्या हुक्म है ?'

उन सज्जन ने धीरे से कहा--'कुछ धोतियाँ दिखाइयेगा !'

उसी वक्त एक आदमी को धोतियाँ लाने का हुक्म हो गया। सहसा लाला कस्तूरीमल को भी जैसे इलहाम-सा हो गया कि यह सज्जन कहाँ से आ रहे हैं। उन्होंने बड़ी नम्रता के साथ पूछा-- 'आप क्वेटा से आ रहे हैं ?'

'जी हाँ' लाला कस्तूरीमल की उत्सुकता अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची। वे पिछले तीन दिनों में कम-से-कम बारह तार क्वेटा को दे चुके थे, और उनमें से एक का भी जवाब उन्हें नहीं मिला था। उनके बहनोई अपने सम्पूर्ण परिवार सहित क्वेटा में ही रहते थे और उनके सम्बन्ध में उन्हें अब तक कोई खबर नहीं मिली थी। धोतियों के एक नए आये हुए बण्डल का तागा कैंची से काटते हुए उन्होंने ज़रा व्यग्र भाव से पूछा--'पब्लिक-वर्क्स डिपार्टमैण्ट के मि० मधुसूदन को आप जानते हैं ?'

उस वृद्ध सज्जन ने बड़ी गम्भीरता के साथ कहा--'जी हाँ !'

'उनके घर वालों को भी।'

'जी हाँ। खूब अच्छी तरह।'

लाला कस्तूरीमल ने नीली किनारी की एक धोती उन सज्जन के सामने खोलकर दिखाते हुए पूछा--'यह नागपुर की धोती है।--मि० मधुसूदन तो शायद उन दिनों दौरे पर थे ?'

'जी नहीं। २९ मई की रात को उन्हें दौरे के लिए रवाना होना था; मगर वे गए नहीं, दौरा उन्होंने अगले दिन के लिए मुल्तवी कर दिया था।'

एक और जोड़ा उन सज्जन के सामनें फैलाते हुए लाला कस्तूरीमल

ने कहा—'यह धोती धुलने के बाद बहुत हल्की हो जाती है—ठीक गरमियों के लायक। यह नागपुर की है। अच्छा, वे दौरे पर नहीं गये ?'

'जी नहीं जा सके।'

'मेरा कोई तार उन्हें मिल गया था ?'

'मुझे आपके साथ हार्दिक सहानुभूति है। मि० मधुसूदन अब इस दुनियाँ में नहीं रहे।'

लाला कस्तूरीमल को उन वृद्ध सज्जन की बात पर जैसे रत्ती भर भी विश्वास नहीं आया। धोतियों के ढेर में से एक जोड़ा निकालते हुए उन्होंने कहा—'आप किन मधुसूदन की बात कर रहे हैं ?'

'उन्हीं मधुसूदन की जिनकी पत्नी का नाम उर्मिला है, जो पब्लिक-वर्क्स डिपार्टमेंण्ट में इंजीनियर थे और जिनकी कोठी बाबू मुहल्ले के दक्षिणी किनारे पर सरकारी हाई-स्कूल के खेलने के मैदान के नज़दीक थी।'

लाला कस्तूरीमल के चेहरे पर गहरे विषाद की रेखा साफ़-साफ़ दीख पड़ी। डूबता हुआ व्यक्ति जिस तरह तिनके के आसरे को भी नहीं छोड़ना चाहता, उसी तरह लाला कस्तूरीमल ने अपने अविश्वास को जबरदस्ती जमाये रखने की चेष्टा करते हुए कहा—भूकम्प के बाद आप उनके यहाँ गये थे ?'

'नहीं जी।'

'फिर आपको कैसे मालूम कि वे नहीं बच पाये ?'

'उनके छोटे भाई साहब की जबानी मालूम हुआ। आप बिना किनारे की कुछ धोतियाँ दिखाइयेगा ?'

'मदरासी धोतियाँ। कर्नाटक मिल। पाँच-सात प्लेन डिज़ाइन फेंको।' लालाजी ने अपने आदमी को आवाज़ दी और उसके बाद कहा—'उनके भाई साहब से ? क्या उन्होंने मिस्टर मधुसूदन का अंतिम संस्कार किया था ?'

'जी नहीं। उनकी देह मिली ही नहीं। शायद कोठी की खुदाई करने पर कहीं कुछ पता चले।'

दक्षिण के छज्जे पर से पाँच-सात धोतियों का एक ढेर इसी समय लाला कस्तूरीमल के ठीक सामने आ गिरा। इस उद्विग्नता में भी लाला साहब अपनी सहज आदत से ग्राहक के सामने जोड़ा खोल कर दिखाने लगे—'यह कर्नाटक का माल है। कर्नाटक ने नागपुर को बड़ा धक्का पहुँचाया है।' लाला साहब ने उन वृद्ध सज्जन के अत्यन्त गंभीर बने हुए चेहरे की ओर देखते हुए कहा—'तो फिर क्या यह मुमकिन नहीं कि घर में किसी को इत्तिला दिए बिना ही वे दौरे पर चले गये हों।'

'नहीं जी। ऐसा नहीं हुआ वे लोग रात को बहुत देर तक साथ साथ ताश खेलते रहे थे।'

'ये धोतियाँ आप अवश्य पसन्द करेंगे। हाँ, उर्मिला का क्या हाल है ?'

'वे अस्पताल में हैं।'

'अस्पताल में !' लाला कस्तूरीमल की सम्पूर्ण देह एकबारगी काँप उठी और क्षण-भर के लिए उनके दोनों हाथ धोतियों के ढेर पर से उठ गये—'उनकी हालत कैसी है ?'

'चोट तो उन्हें उतनी अधिक नहीं लगी, जितना पति और बच्चे के देहान्त का सदमा पहुँचा है। आपको अवश्य ही स्वयं क्वेटा जाकर

उन्हें लाने का प्रबन्ध करना चाहिये। इस जोड़े की कीमत क्या है ?'

'चार रुपया छः आना इसकी खरीद है। मैं आपसे ज्यादा चार्ज नहीं करूँगा। कुछ और भी नमूने दिखाऊँ क्या ?'

'आपकी मेहरबानी। बनी-बनाई कमीजें भी तो आपके यहाँ होंगी ?'

'आप विदेशी कपड़ा तो नहीं पहनते न ?'

'जी नहीं, मुझे स्वदेशी कपड़ा चाहिये।'

'हम खुद जहाँ तक बन पड़ता है, स्वदेशी माल ही बेचते हैं। आपने खुद उर्मिला को अस्पताल में देखा था ?'

'जी नहीं ! वह भी मि० मधुसूदन के भाई साहब ने ही बताया था। मैं खुद चोट खा गया था, कहीं आ-जा नहीं सका।'

'आप रेशमी कमीजें चाहते हैं या सूती ? दोनों ही देख लीजिये। रामलाल ३० नम्बर की कमीज लाना।' और उस एक ही साँस के उत्तर भाग को अत्यधिक करुण और एकदम ठण्डा बनाते हुए लाला कस्तूरीमल ने कहा—'तो क्या काशी भी इस दुनिया में नहीं रहा ?'

'मुझे इस बात का हार्दिक दुःख है कि यह दारुण समाचार मैं आपको दे रहा हूँ।'

इस समय तक काउण्टर पर कमीजों का ढेर लग गया था। लाला कस्तूरीमल उस ढेर की कमीजें दिखाते हुए बोले—'यह मुर्शिदाबादी रेशम की कमीज़ है, यह ढाके के रेशम की और यह काशी के रेशम की। मज़बूती के लिहाज से यह काश्मीरी रेशम सब से बढ़िया है। मगर यह इत्सूं का सूती कपड़ा सब को मात कर गया है। मिल ने हाल ही में कीमतें भी बहुत गिरा दी हैं।' और तब अपने हृदय के

कुचले हुए अविश्वास को ज़बरदस्ती जगाकर लाला कस्तूरीमल नें कहा––'मि० मधुसूदन के भाई साहब तो चमन गए हुए थे।'

'दो-एक दिन पहले ही वे क्वेटा पहुँचे थे। उस रात वे बरामदे में सोये थे, इसी से बच गये। इस कमीज की कीमत क्या है ?'

'तीन रुपया छः आना। आप से मैं तीन ही लूंगा।'

'धन्यवाद। इस वक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये।'

इसी समय एक संभ्रांत महिला उस दुकान में आई। लाला कस्तूरीमल अपने एक सहकारी को उन सज्जन के पास छोड़ कर स्वयं उस महिला की ओर बढ़ गए। उनके चेहरे पर इस समय हद दर्जे की उदासी छाई हुई थी; परन्तु उनकी तत्परता पर इस उदासी का कोई प्रभाव नहीं पड़ने पाया था।

(२)

रावलपिण्डी जेल का सबसे अधिक ताकतवर और कठोर चौकीदार यूसुफ़ मज़े-मज़े में ग्यारह का घंटा बजा रहा था। सरदियों का मौसम था और मध्याह्न की हलकी-हलकी धूप बहुत भली प्रतीत हो रही थी। इसी समय जेल के बड़े फाटक के बाहर से आवाज़ आई––तार ले लो।'

ड्योढ़ी में कोई चौकीदार नहीं था। भीतर के सहन से यूसुफ़ ने तार वाले की आवाज़ सुनी, मगर उसने कोई परवाह नहीं की। मज़े-मज़े में उसने मुगरी अपनी जगह रखी और धीरे-धीरे वह फाटक की ओर बढ़ा। तार वाला बहुत अधीर हो रहा था, परन्तु यूसुफ़ का डील-डौल देख कर उसे हिम्मत न हुई कि वह उस पर अपना रोब डालने का प्रयत्न करे।

नज़दीक आकर यूसुफ़ ने पूछा––'किसका तार है ?'

'यूसुफ़ जमादार का।'

अट्टाहास करके यूसुफ़ हँस पड़ा। जेल भर में और तो कोई यूसुफ़ है ही नहीं। वाकी रहा वह, सो उसका तार आ ही नहीं सकता। पिछले कई वर्षों से जिस आदमी के पास एक चिट्ठी तक नहीं आई, उसका तार कहाँ से आ सकता है? फिर उसे तार देगा ही कौन? सरहद के जिस अफरीदी प्रांत में उसका मकान है उसके पचास मील की परिधि में एक भी डाकखाना या तारघर नहीं। जी-भर कर हँस लेने के बाद यूसुफ़ ने कहा—'कहीं गलती से कचहरी के यूसुफ़ का तार जेल के यूसुफ़ के पास तो नहीं ले आये?'

मगर तार सचमुच उसी का था और बहुत शीघ्र उसे मालूम हो गया कि उसके ससुर साहब मरणासन्न हैं। मौत के बाद कोई और व्यक्ति ठीक तौर से उन्हें दफ़ना सकेगा, इस बारे में उन्हें शक था, इसी से उन्होंने यूसुफ़ को बुलाने के लिए तार भिजवाया है।

इस जेल में चौकीदार नियुक्त हुए यूसुफ़ को पन्द्रह बरस बीत चुके हैं। इन पन्द्रह बरसों में वह एक बार भी अपने देश को नहीं गया। कभी किसी बात के लिए एक दिन की भी छुट्टी उसने नहीं ली। युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों उस अशासित प्रान्त में अपने अनेक साथियों के साथ यूसुफ़ ने बीसों साहसिक काम किये हैं––डाके डाले हैं, चोरियाँ की हैं और छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी लड़ी हैं। मगर उसके बाद जब यूसुफ़ का विवाह हो गया, तो उसके श्वसुर पक्ष का यह सबसे बड़ा उलाहना बन गया कि यूसुफ़ निठल्ला है, न वह खेती करता है न वह किसी गिरोह का सरदार है और न सरकार ही से कुछ पाता है। उन उलाहनों से तंग आकर वह अपने देश से भाग खड़ा हुआ और रावलपिण्डी पहुँच कर जेल में पहरेदार के पद पर नियुक्त हो गया था। पिछले पन्द्रह बरसों में प्रतिमास वह कम-से-कम दस रुपए अपने श्वसुर साहब के पास भेजता रहा है, मगर न तो वह खुद कभी उनसे मिलने के लिए गया और न उसने अपनी पत्नी को ही

अपने पास बुलवाया।

अपने श्वसुर का तार पाकर सहसा यूसुफ़ को अपनी मातृभूमि की स्मृति हो आई। वजीरिस्तान के वे नंगे पहाड़, उन पहाड़ों पर चरती हुई भेड़ें और उन भेड़ों के साथ-साथ स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर पठान युवतियाँ। उन्हीं सूखी-सी पहाड़ियों पर अँगूर पैदा होते हैं, उसी भूमि की मटियाली-सी सतह पर सरदे बिछे रहते हैं और वहीं किशमिश, न्योजे और बादाम की बहार आती है। वहाँ आजादी है, वहाँ वीरता है और सबसे बढ़कर वहाँ पुरुषत्व है। हाँ, यूसुफ़ का बहिश्त वहीं तो है।

और इसके साथ ही साथ उसे अपने श्वसुर की बीमारी का स्मरण हो आया। वह बीमार हो गया है। बुड्ढा है, चल बसेगा। एक दिन जाना ही तो था। उसमें न कोई अचम्भे की बात है, न चिन्ता की और न शोक की। मगर फिर भी उसने बुलाया है। और कौन उसे ठीक तौर से दफ़ना सकेगा? यूसुफ़ को जाना ही चाहिए। वह जायेगा ही।

मातृ-भूमि की याद से एक विशेष तरह की स्निग्धता का भाव यूसुफ़ के चेहरे पर झलक उठा और पश्तो का एक गीत गुनगुनाता हुआ वह जेलर साहब के दफ्तर की ओर बढ़ गया। यूसुफ़ के आने के पहले ही उसके तार की बात जेलर साहब को मालूम हो चुकी थी। एक मुस्कराहट के साथ उसकी ओर देखकर उन्होंने कहा—'क्यों यूसुफ़, पन्द्रह साल का रिकार्ड तोड़कर छुट्टी लेना चाहते हो?'

यूसुफ़ ने कोई जवाब न दिया।

जेलर साहब ने पूछा— "तुम्हारे श्वसुर की उम्र कितनी है?"

"छियत्तर साल।"

''अब भी तुम चाहते हो कि वहाँ पहुँच कर उसे बचाने की कोशिश करो !''

यूसुफ़ चुप रहा ।

जेलर साहब ने अब के बहुत ही गम्भीर बन कर कहा--'कानून के मुताबिक यहाँ छः जमादारों का हर वक्त मौजूद रहना लाज़मी है । आठ जमादारों में से दो पहले ही छुट्टी पर हैं । इस हालत में मैं तुम्हें छुट्टी किस तरह दे सकता हूँ ?'

यूसुफ़ ने कहा—'अलादीन की छुट्टी कल से मंजूर हो चुकी है, मगर वह गया नहीं । मेरे कहने से वह अपनी छुट्टी मेरे हक़ में बाद के लिए मन्सूख करवा लेगा । उसे कोई खास काम तो है ही नहीं ।'

जेलर साहब ने तार पढ़कर कहा--'तुम्हें कौन-सा खास काम है ? श्वसुर को दफ़नाना । यह भी कोई काम है !',

कठोर हृदय यूसुफ़ ने सिर झुका दिया--जैसे वह पराजित हो गया हो; मगर जेलर के क्लर्क ने उसकी मदद की । वह बोला--'शायद कोई जायदाद का सवाल हो ।'

यूसुफ़ खीझ उठा । वह अब बर्दाश्त न कर सका । उसने कहा--''मैं किसी जायदाद के लालच से नहीं, अपने श्वसुर की ख़िदमत के ख्याल से ही वहाँ जाना चाहता हूँ ।'

जेलर ने ज़रा ऊँची आवाज में कहा--'श्वसुर का भी कोई नाता होता है । एक आदमी की लड़की ले ली, इससे वह उम्र भर के लिए रिश्तेदार हो गया !--यह भी कोई रिश्ता है ?'

जेल का क्लर्क मुंह मोड़कर अपनी हँसी छिपाने की कोशिश करने लगा । जेलर का लेक्चर अभी तक जारी था--'देखो यूसुफ़ ! हिन्दुस्तान भर में तुम्हारा ही यह रिकार्ड है कि तुमने अपनी पन्द्रह

साल की सरकारी नौकरी में एक भी दिन की छुट्टी कभी नहीं ली। एक ज़रा-सी बात के पीछे तुम अपना वह शानदार रिकार्ड तोड़ डालना चाहते हो।'

दानव-काय यूसुफ़ से जब और कुछ न बन पड़ा, तो उसकी आँखों में आँसू भर आये।

क्लर्क को अब उस पर रहम आ गया। उसने कहा—'तो तुम ज़रूर छुट्टी लेना चाहते हो ?'

यूसुफ़ ने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। क्लर्क ने कहा—'वह छुट्टी लेना चाहता है। उसकी पूरी छुट्टी बाकी है। कानूनन हम लोग उसे छुट्टी न लेने के लिए मजबूर नहीं कर सकते।'

जेलर ने एक बार अपने क्लर्क की ओर अग्निमय दृष्टि से देखा; परन्तु सहसा उन्हें उसी समय एक भूली बात का स्मरण हो आया। करीब दो महीने के बाद पेशावर के जेल इन्सपेक्टर महोदय रावलपिण्डी में नियुक्त होकर जाने वाले थे। जेलर ने उन्हें भेंट में भेजने के लिए सेबों की एक पेटी का आर्डर दे रखा था। यह पेटी दो दिन बाद काश्मीर से आनेवाली थी। क्यों न वह पेटी यूसुफ़ के हाथ ही पेशावर भेज दी जाय।

जेलर साहब ने जैसे एक मिनट तक सोचते रहने के उपरान्त कहा—'तुम पेशावर के रास्ते ही अपने गाँव जाओगे न ?'

'जी हाँ।'

'तो तुम्हें दस दिनों की छुट्टी मैं दे सकता हूँ। मगर आज से नहीं। दो दिन बाद।'

यूसुफ़ ने नम्रता से कहा—'उनका तो मालूम नहीं, वे कब चल बसें। आज रात को रवाना होकर भी जल्दी से जल्दी में तीन दिन

बाद ही वहाँ पहुँच सकता हूँ ।'

जेलर ने कहा--'तुम्हारी छुट्टी मजूर होने में दो दिन अवश्य लग जायेंगे ।'

यूसुफ़ ग्रौर क्लर्क दोनों ने हैरानी के साथ जेलर की ग्रोर देखा । उन दोनों के लिए यह बात अश्रुतपूर्व थी । क्लर्क ने कहा--'दरख्वास्त पर आप ही के दस्तखत काफी नहीं हैं क्या ?'

अपनी कमीनगी पर मुसकराहट का परदा डालते हुए जेलर ने कहा--'यार तुम्हें मेरी सेबों की पेटी पेशावर तक अपने साथ ले जानी होगी ग्रौर वह पेटी परसों से पहले यहाँ नहीं पहुँच सकती ।'

जेलर साहब का यह काम इतना अधिक महत्वपूर्ण था कि बेचारा यूसुफ़ आज ही रवाना हो जाने के लिए ग्रौर अधिक आग्रह नहीं कर सका ।

(३)

साईकिल के पैडिलों पर तेजी के साथ पैर मारता हुआ देसराज बैंक की ग्रोर चला जा रहा था । इस समय बारह बज कर पैंतीस मिनट हुए हैं ग्रौर आज शनिवार है । एक बजे के बाद बैंक से लेन-देन न हो सकेगा । देसराज की जेब में पाँच सौ रुपये के नोट पड़े हैं । बैंक में जाकर उसे अपने मालिक की एक रेलवे रसीद छुड़ानी है ।

सड़क गोल बाग से होकर जहाँ माल रोड की ग्रोर घूमती है, वहीं देसराज के मार्ग में सहसा एक बाधा आ खड़ी हुई । सड़क के किनारे बीस-पच्चीस आदमी जमा थे । देसराज की साईकिल जब वहाँ पहुँची, तो दो-तीन आदमियों ने हाथ बढ़ा कर उससे कहा--'बाबूजी, जरा ठहरिये ।'

देसराज को रुकना पड़ा । पूछने पर मालूम हुआ कि राह चलते एक आदमी को गश आ गया है । उसे क्या बीमारी है, यह किसी को

नहीं मालूम; मगर बेहोशी की दशा में भी अत्यधिक व्याकुल और क्षीण-से स्वर में वह बार-बार पुकार उठता है—'पानी ! पानी !'

मगर आस-पास कहीं पानी नहीं है ।

एक ठेले वाले ने देसराज से कहा—'बाबूजी, वह यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर यूनिवर्सिटी के लड़कों का क्लब है । आप यदि साईकिल पर वहाँ जाकर एक लोटा पानी ला दे सकें, तो इस बेचारे की जान बच जाय ।'

देसराज ने पूछा—'यहाँ यह कब से पड़ा है ?'

किसी ने बताया—'करीब पन्द्रह मिनट से ।'

देसराज ने दूसरा सवाल किया—'इसे क्या बीमारी है ?'

एक मुसाफिर ने जरा झुंझलाकर कहा—'हम लोगों में से कोई डाक्टर तो है ही नहीं । जो कुछ है, वह आपके सामने है ।'

देसराज इस बात पर खीज उठता; परन्तु उसी समय उसी ठेलेवाले ने बड़ी नम्रता से कहा—'बाबू साहब यहाँ इस आदमी का अपना सगा कोई भी नहीं । यदि दो-चार मिनटों में आप साईकिल पर जाकर कहीं से इसे पानी ला दे सकते, तो उसके बाद मैं अपने ठेले पर लिटाकर इसे अस्पताल तक छोड़ आता । आप साहब हैं, आपको माँगने पर पानी मिल भी जायगा; मगर हम गरीबों को इन बड़ी-बड़ी इमारतों में कोई घुसने भी न देगा ।'

देसराज के जी में सचमुच दया-संचार हो आया । वह खुद भी एक गरीब बाबू है—ऐसा गरीब बाबू जिसे अपने जीवन निर्वाह में इन ठेले वाले और झल्ली वाले मजदूरों से भी बढ़कर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । उसका मालिक उससे दिन में बारह घंटे और चार सप्ताह में सत्ताइस दिन (क्योंकि उसकी दुकान महीने में

एक ही दिन बन्द होती है) कस कर काम लेता है, तब जाकर उसे तीस रुपया मासिक वेतन मिलता है। वह भी यदि गरीबों के दुःख-दर्द और उसकी असहाय अवस्था को नहीं समझेगा, तो और कौन समझेगा? वह देख ही रहा था कि कालेज के विद्यार्थियों की साईकिलें और अमीरों की कारें काफी संख्या में उसी सड़क पर से होकर इधर-उधर निकल जाती हैं, किसी को इस ओर ध्यान देने की फुरसत नहीं। मगर उसी समय उसकी निगाह अपनी घड़ी पर पड़ी। बारह बजकर पैंतालीस मिनट हो चुके हैं। पन्द्रह मिनटों के बाद बैंक में न तो रुपये ही जमा कराये जा सकेंगे और न रेलवे रसीद ही ली जा सकेगी। कल रविवार है। माल मिलने में दो दिन की देर हो जायगी और वह स्वतन्त्र नहीं!

हृदय की सम्पूर्ण भावुकता को कुचल कर देसराज साईकिल पर सवार हो गया और कुछ गज आगे बढ़ कर वह कहता गया—'बीस-पचीस मिनट में मैं वापिस आता हूँ।'

बैंक से अपना काम समाप्त करके देसराज जब गोल बाग के नजदीक पहुँचा तो उसने देखा कि वहाँ तमाशबीनों की भीड़ इतनी अधिक बढ़ गई है कि सड़क पर राह मिलनी भी कठिन है।

देसराज साईकिल से उतर पड़ा और पास ही खड़े हुए एक आदमी से पूछा—'क्या बात है?'

उसने बताया—'कुछ नहीं, कोई मुसाफिर राह चलते सड़क पर गिर कर मर गया है और पुलिस उसकी लाश लेने आई है।'

देसराज ने एक ठंडी साँस ली और धीरे-धीरे उस भीड़ को पार करके वह पुनः साईकिल पर सवार होगया। पाँच सौ रुपये के पोनेड वैसलीन के पार्सल की अत्यधिक महत्वपूर्ण रेलवे रसीद अब उसकी जेब में पड़ी थी।

श्री कृष्णानन्द गुप्त

श्री कृष्णानन्द गुप्त का जन्म सन् १९०४ में हुआ। साहित्य और कला के सम्बन्ध में आपका अध्ययन बहुत विस्तृत है। मानव-शास्त्र और लोक-साहित्य पर आपने गवेषणापूर्ण कार्य किया है। आप 'लोकवार्ता' (टीकमगढ़) तथा 'संगम' प्रयाग के सम्पादक भी रहे हैं। आप एक अच्छे आलोचक भी हैं।

गुप्तजी की कहानियों का संग्रह 'पुरस्कार' नाम से प्रकाशित है। इनकी अनेक कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में आती रही हैं। आपकी कहानियों में यथार्थ को लेकर एक आदर्श का संकेत रहता है। 'करीम मर गया' नाम की कहानी सन् १८५७ के गदर की पृष्ठभूमि में लिखी गई है। शरणागत अँग्रेज़ों को बचाने के लिए लाला हरजूमल के लठैत जल मरे। करीम को भी ज़िन्दा जला दिया गया पर उसने राव साहब को उन अँग्रेज़ों का पता-निशान नहीं बताया जिन्हें वह उरई से कालपी अपनी रक्षा में लिये आ रहा है। कहानी का वातावरण अत्यन्त रोचक है। भाषा सरल और साहित्यिक है। वर्णन बहुत सुन्दर है।

करीम मर गया !

१८५७ का सन् । जून का महीना । दिन ढल चुका है. पर सूर्य की तिरछी किरणें अब भी आग बरसा रही हैं ।

उरई से कालपी जाने वाले मार्ग पर एक चौपहिया गाड़ी कुछ यात्रियों को लेकर, पथ की धूल उड़ाती हुई, तेज़ी से आगे बढ़ रही है । गाड़ी के घोड़े धूल और पसीने से लथपथ हैं । मुंह में फेन भरा है, और पसलियाँ धौंकनी की तरह चल रही हैं । कोचवान को फिर भी उन पर दया नहीं । पीठ पर चाबुक पर चाबुक छोड़ रहा है, मानो उसके स्वामियों ने पृथ्वी के दूसरे छोर पर ही विश्राम करने की शपथ खाई है ।

गाड़ी में जो यात्री हैं, उनकी अवस्था घोड़ों से कम शोचनीय नहीं । गाड़ी में स्थान की कमी की वजह से एक दूसरे पर लदे बैठे हैं । मूक और निश्चेष्ट । पथरीला मार्ग है । ठोकर लगती है, तो निर्जीव गठरियों की भाँति ऊपर उछल जाते हैं, और एक दूसरे से टकराते हैं । पर वे न ऊः करते हैं न आ । मानो किसी भयानक विपत्ति की प्रतीक्षा में हैं, जिसकी तुलना में उनका यह कष्ट बिल्कुल ही नगण्य है ।

एक ओर तीन युवक हैं । हट्टे-कट्टे और मजबूत । चुपचाप बैठे हैं । उनकी छायादार टोपियाँ सूर्य के ताप से उनके चेहरों की रक्षा नहीं कर पातीं, क्योंकि सूर्य उनके सामने है । उनमें से एक की गोद में एक अल्पवयस्क बालक है । देखने में सुन्दर और सुकुमार । रौद्र के प्रखर ताप में उसका खिला हुआ चेहरा एक बार ही सूख गया है । उसके हाथ में तरबूज का एक टकड़ा है, जिसे वह लुब्ध भाव से

बार-बार चूम रहा है। एक युवक ने उसके सिर पर अपने कोट से छाया कर रक्खी है, पर वायु के वेग में वह एक जगह टिक नहीं पाता।

तीन व्यक्ति दूसरी ओर हैं। एक वृद्ध, एक युवती और एक अधेड़। युवती वृद्ध के निकट बैठी है, मानो किसी ने शिशिर के पार्श्व में बसन्त को बिठा रक्खा है। वह रूपवती है। सुकुमारी है। फिर भी प्रकृति को उस पर दया नहीं है। लू के गरम झोंके उसके मुँह पर तमाचे मार रहे हैं। सिर पर धूल जमी है। आँखें भूरी हो रही हैं। और उस भूरेपन के भीतर एक ऐसी अव्यक्त निराशा और असीम करुणा छिपी हुई है कि देखकर आश्चर्य और कौतूहल होता है, साथ ही साथ बड़ी दया भी आती है। नियति ने निस्संदेह उसे और उसके साथियों को धोखा दिया है, क्योंकि उनके गोरे शरीर भारतवर्ष की भयानक गर्मी के लिये बने नहीं जान पड़ते।

कालपी के निकट पहुँच कर कोचवान ने घोड़ों की रास खींची। ग्रीष्म के प्रभाव से नगर के बाहर का पथ निर्जन बना हुआ है। दो-एक नगर-निवासी आ-जा रहे हैं। चौपहिया गाड़ी और उसमें बैठे यात्रियों को देखकर वे ठिठक गए, और कौतूहल भरी दृष्टि से देखने लगे। कोचवान ने अँगोछे से अपना मुँह पोंछा, और आराम की साँस लेकर इतनी देर बाद बोला— "बाप रे, दिन डूबने को आया। फिर भी आग बरस रही है। आज कहीं चैन भी मिलेगा!" फिर धूल से भरी दाढ़ी और ढीले एवं फटे पायजामे को देखकर कहने लगा—"कैसी कलंदर-जैसी शकल बन गई है। झाँसी से सारी धूल मानो मेरे ही सिर पर आई है।"

एक भले नागरिक को पास से गुजरते देखकर उसने गाड़ी रोकी, और पूछा—"क्यों साहब, यहाँ कहीं पानी भी मिलेगा?"

यात्री सिर उठा कर व्याकुल, शून्य दृष्टि से उस व्यक्ति को देखने लगे, मानो सब के सब उससे कुछ कहना चाहते थे ।

नागरिक ने उत्तर दिया—"क्यों नहीं, आगे कुआँ है, पियाऊ भी है ।"

कोचवान ने आगे बढ़ने के उद्देश्य से घोड़ों की पीठ से चाबुक स्पर्श किया । यात्रियों पर दृष्टिपात करके नागरिक ने विस्मित भाव से पूछा—"तुम्हें जाना कहाँ है ?"

"कहाँ बताऊँ !" कोचवान को कदाचित् स्वयं ही अपने गंतव्य स्थान का पता नहीं था । परन्तु उस व्यक्ति के सफ़ेद बाल और भद्र-जनोचित वेश-भूषा देखकर वह बोला—"जहाँ भाग्य ले जाय, लाला जी !"

भद्र पुरुष ने प्रश्न किया—"तो क्या चले ही जाओगे ? रात्रि में आराम नहीं करोगे ? घोड़े तो इस योग्य हैं नहीं कि आगे जायँ !"

कोचवान बोला—"आराम तो सब कुछ करना चाहता हूँ, मगर कहीं ठिकाने की जगह मिले, तब तो । इन अंग्रेज़ों के पीछे बाग़ी हैं । कल सवेरे झाँसी छोड़ी थी, तब से बराबर चल रहा हूँ । आराम कैसा होता है, घड़ी-भर के लिये भी नहीं जाना । आपको क्या बताऊँ साहब, कैसी मुसीबत में पड़कर इन अंग्रेज़ों को बचा पाया हूँ । झाँसी से भांडेर गया । वहाँ से कोंच । कोंच से आज उरई । वहाँ बहुत कोशिश की—कोई इन लोगों को अपने घर में छिपा ले, मगर जान-बूझकर कोई ऐसी मुसीबत मोल क्यों लेने लगा ! जहाँ सुना कि इनके पीछे बाग़ी हैं, सबने किवाड़ बंद कर लिये । कल से बेचारों के मुंह में दाना नहीं गया । सारी दोपहरी सिर पर बीती है । उरई

में पानी पिया था। खाने को वहाँ भी नसीब नहीं हुआ। तब से यहाँ गाड़ी रोकी है।''

कोचवान की लम्बी दाड़ी और ढीला पायजामा देखकर उस सज्जन ने कहा—''खाँ साहब, आपने बड़ी ग़लती की, जो इन अँग्रेज़ों को इस रास्ते से लाए। आपके लिये तो इन दिनों सब तरफ़ मुसीबत है। वहाँ खन्दक से बचकर आए हैं, तो यहाँ खाई है। कालपी आजकल बाग़ियों का अड्डा हो रहा है। दो दिन से राय-साहब यहीं किले में पड़े हैं। यदि आप सचमुच इन अँग्रेज़ों को बचाना चाहते हैं, तो यहाँ से तो उलटे पैरों लौट जाइए। रात में कहीं रहिए, मगर बस्ती में मत जाइए।''

कोचवान सहसा चौंक उठा। अपनी मौत की खबर पाकर भी शायद उसके मुँह का भाव इतना न बिगड़ता, जितना उस भद्र पुरुष के मुँह के उपर्युक्त समाचार सुनकर। उसे कालपी की स्थिति का पता नहीं था, अन्यथा इस मार्ग पर वह कदापि पाँव न धरता। बोला—''भाई साहब, ये सात प्राणी इस वक्त मेरे लिये दुनिया की बड़ी-से-बड़ी नियामत से भी बढ़कर हैं, क्योंकि अपनी जान जोखिम में डालकर मैं इन्हें बचाकर लाया हूँ। मगर आपने तो यह बुरी खबर सुनाई। रात के समय कहाँ जाऊँ? जंगल में तो रहूँगा नहीं। कोई सुभीते की जगह बताइए, जहाँ ये रह सकें, और कुछ खाने-पीने को भी मिल सके। दो दिन हो गए, इनके मुँह में दाना तक नहीं गया।''

भद्रपुरुष कुछ विचलित-से होकर बोले—''यह खूब रही खाँ साहब, जो रास्ता बतावे, वही आगे हो। मैं तुम्हे कौन-सा स्थान बता दूँ? यहाँ तो कोई धर्मशाला भी नहीं है। एक है, मगर वहाँ तुम सुरक्षित रहोगे, यह कैसे विश्वास दिला सकता हूँ!''

कोचवान गाड़ी से नीचे उतर आया, और भद्रपुरुष का हाथ पकड़कर कातर स्वर में बोला—"इन अँग्रेज़ों पर रहम खाइए, भाई साहब ! बड़ा पुण्य होगा, इन्हें आप बचा लेंगे तो। कोई युक्ति सोचिए कि ये कुशल से रह सकें।"

भद्र सज्जन कोचवान के मुँह की ओर देखकर बोले—"भाई, मैं क्या युक्ति सोचूँ ?"

"युक्ति तो आसान है, अगर आप चाहें। आज रात के लिये इन्हें आप अपने घर में जगह दे दीजिए।" कोचवान ने तुरन्त अपनी बात कह डाली।

भद्र पुरुष अवाक् होकर उसे देखने लगे। क्षण-भर के लिए स्वयं यह विचार उनके हृदय में उठा था कि विपद-ग्रस्त अँग्रेज़ों को अपने घर ले चलें, परन्तु यह विचार तुरन्त ही लीन हो गया। उन्होंने कहा—"यह तो बहुत मुश्किल है।"

कोचवान बोला—"नहीं जनाब, कुछ मुश्किल नहीं। पुण्य का काम करने में भी कभी किसी को कठिनाई हुई है ? कसम से कहता हूँ, किसी को कानोंकान खबर नहीं होगी। अंधेरा हो ही चला है। दो-तीन दिन के लिए अपने घर का कोई अंधेरा कमरा खाली कर दीजिये।"

"सो तो मेरी हवेली में ऐसे कई कमरे हैं।" भद्र सज्जन बोले।

"बस-बस, किसी एक में छिपा दीजिए। ईश्वर आपको चिरायु करे। ज़रा खयाल कीजिए इनकी मुसीबत का। दो दिन से मौत के स्वप्न देख रहे हैं। आप जब कालपी का यह हाल बताते हैं, तो भगवान् ही इनका मालिक है।"

भद्र सज्जन चुप रहे। जान-बूझ कर इस मुसीबत को मोल लेना बुद्धिमानी होगी, अथवा नहीं, यही सोच रहे थे। तब तक कोचवान ने फिर कहा--"मुझे एक-एक घड़ी एक-एक युग के समान जान पड़ती है। और, इन सबको प्यास लगी है।"

भद्र सज्जन ने कुछ देर बाद धीरे से कहा—"देखिए, घबराइए नहीं। वही सोच रहा हूँ। इन लोगों को किस प्रकार हवेली तक ले चलूं। अगर राव साहब के किसी आदमी को खबर हो गई, तो मेरे मकान की एक ईंट भी नहीं बचेगा।"

कोचवान समझदार था, चुप हो गया, और खुशी-खुशी अपने मालिकों से बात करने लगा। उसमें से एक अँग्रेज टूटी-फूटी हिन्दी समझ लेता था। उसने अपने साथियों को सारी परिस्थिति बताई। गोरों को जीवित रहने की बहुत आशा नहीं थी। वे अपने को मृत्यु के उस किनारे पर खड़ा हुआ समझ रहे थे, जहाँ से कोई वापस नहीं लौट सकता। निराशा के इतने बड़े अन्धकार में आशा की यह ज्योति ऐसी थी, जिसका दर्शन पाकर वे पल-भर में यात्रा का सारा कष्ट भूल गये। उन सबकी कृतज्ञ दृष्टियों ने भद्र सज्जन पर धन्यवाद की अजस्र वर्षा की। उनमें से जो थोड़ी हिन्दी जानता था, वह बोला—"हम तुमको बहुत रुपया देगा। इतना रुपया कि तुमने कभी देखा न होगा। तुम हमको धोखा नहीं देगा? क्यों?"

कोचवान बोल उठा—"आप कैसी बात कहते हैं? साहब! ऐसे मौकों पर हम लोग अपने दुश्मन को भी धोखा नहीं देते।"

भद्रसज्जन ने विपत्ति के मारे उन गोरों को अपनी हवेली में स्थान दिया। उनको हवेली के ऐसे खण्ड में छिपा कर रक्खा, जहाँ कोई पक्षी भी पर नहीं मार सकता था, और अपने विश्वास-पात्र नौकरों को समझा दिया कि इस विषय में बिल्कुल मौन रहें। किसी से इन

गोरों की चर्चा न करें, क्योंकि ये अपनी शरण आए हैं, और शरणागत की रक्षा करना प्राणिमात्र का परम कर्तव्य है।

२

लाला हरजूमल की हवेली के सामने इमली का जो विशाल वृक्ष है, उसके नीचे चार व्यक्ति बैठे तमाखू पी रहे हैं। उनमें से एक तो वही कोचवान है, शेष लाला हरजूमल के लठैत। कोचवान को यहाँ आए दूसरा दिन है। इस बीच में आज संध्या-समय ही वह हवेली से बाहर निकला है, और हरजूमल के लठैतों से बात कर रहा है। चारों खूब चौकन्ने होकर बैठे हैं। धीरे-धीरे बात कर रहे हैं, मानो किसी विपत्ति की छाया उनके सम्मुख है। करीम--वही कोचवान--उन लोगों को झाँसी के विद्रोह की आँखों-देखी लोमहर्षण कहानी सुना रहा है। किस प्रकार सिपाहियों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया, बलवे की आग किस तरह सुलगी, किस तरह बलवाइयों ने अँग्रेज अफ़सर और उनके बाल-बच्चों का निर्दयता-पूर्वक वध किया, किस प्रकार महारानी ने तरस खाकर अवशेष अँग्रेज-स्त्रियों और बच्चों को राजमहल में आश्रय दिया और किले में छिपे हुए अँग्रेजों को किस गुप्त रीति से सहायता पहुँचाती रही, इसके बाद विद्रोहियों ने किस प्रकार महारानी को राजमहल में घेर लिया, और महारानी ने उनसे अपना पिंड छुड़ाया। अन्त में उसने अपनी राम-कहानी सुनाई। किस तरह वह इन अंग्रेजों को लेकर अपने घर में घास के ढेर के भीतर दो दिन तक छिपा रहा, और किस तरह उन्हें बचा कर यहाँ ले आया, इत्यादि।

कहानी लम्बी थी, और लठैत भय एवं आश्चर्य-मिश्रित एकाग्रता से उसे सुन रहे थे। सहसा पीछे किसी के भारी पैरों की आहट सुनाई दी। चारों नें ऊपर नजर की। दो लट्ठबन्द जवान उनके सामने थे। कमर में तलवार, हाथों में आदम-कद, मजबूत लट्ठ। चारों को

दृष्टि जहाँ-की-तहाँ थम गई। कुछ पूछना चाहते थे, इसके पहले ही नवागंतुकों में से एक ने अपनी भारी आवाज़ में कहा—"हरजूमल हैं ?"

लठैतों में से एक ने कहा—"नहीं हैं।"

"कहाँ गए हैं ?"

"गोपालपुरा।"

"कब आवेंगे ?"

"पता नहीं। तुम अपना मतलब कहो।"

"हमारा मतलब तो सीधा है। वह हरजूमल के बिना भी सिद्ध हो सकता है। परसों यहाँ सात अँग्रेज आए हैं। इसी चौपहिया गाड़ी पर, जो यहाँ रक्खी है।"

सुनते ही करीम के पैरों-तले की ज़मीन खिसक गई। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह अपनी जगह पर प्रकृतिस्थ खड़ा रहा, यही बड़ी बात थी।

वह लट्ठबंद व्यक्ति कहता गया—"हरजूमल ने उनको अपनी हवेली में छिपा रक्खा है। राव साहब को पक्की खबर मिली है। हम उन्हीं अँग्रेजों को चाहते हैं। कहाँ हैं वे लोग ? बोलो।"

अब तक तीनों लठैत उठकर खड़े हो गए थे। एक ने महान् आश्चर्य की मुद्रा बना कर गंभीरता-पूर्वक उत्तर दिया—"कैसे ? कहाँ के अँग्रेज ? आप क्या कह रहे हैं ? राव साहब को ग़लत ख़बर मिली है। हवेली में तो कोई नहीं है। यहाँ कोई अँग्रेज नहीं है। आया भी हो, तो हमें क्या पता ?"

पहला आगन्तुक त्यौरी बदलकर बोला—"देखो, इन व्यर्थ की

बातों में कुछ नहीं रक्खा। हरजूमल इस मामले में हैं, नहीं तो हमारे पास ऐसी दवा है कि तुम तो क्या, तुम्हारे पीर आकर बताएँगे कि हरजूमल ने अंग्रेज़ों को कहाँ छिपा रक्खा है ।''

वही लठैत सँभलकर बोला—'हवेली पड़ी है, आप खुशी से देख सकते हैं। एक घर, जहाँ स्त्रियाँ हैं छोड़ घर सब जगह जाइए। अथवा आपकी मर्ज़ी हो, तो स्त्रियाँ बाहर आ जायँगी। अभी प्रबन्ध किए देता हूँ।''

दूसरा आगन्तुक बोला—''अंग्रेज़ हवेली में नहीं हैं, यह तो मान लिया; मगर यह चौपहिया गाड़ी तो उन्हीं अंग्रेज़ों की है, जो परसों उरई से यहाँ भागकर आए हैं। इसके पहले गाड़ी यहाँ नहीं थी। क्या कहते हो ?'' और वह तीखी नज़र से लठैत के मनो-भावों को ताड़ने का प्रयत्न करने लगा।

लठैत सचमुच कुछ अचकच गया। करीम ने तुरन्त उत्तर दिया—''हरजूमल ने अभी खरीदी है कानपुर के एक व्यापारी से।''

आगंतुक ऊँचे स्वर से हँस पड़ा—ठीक कहते हो खाँ साहब ! हरजूमल ने कानपुर या झाँसी के जिन व्यापारियों से यह सौदा किया है, हम उन्हीं को चाहते हैं। सीधे-सीधे बता दो कहाँ हैं, नहीं तो तुम्हारी दाढ़ी की आज खैरियत नहीं।'

तीनों लठैत एक क़दम आगे बढ़ आए। एक ने अपना लट्ठ सँभालकर कहा—''देखिए साहब, ज़बान क़ाबू में रखिए, आप राव साहब का आदमी समझकर हमने कुछ नहीं कहा, नहीं तो हमारे मालिक की भी इतनी इज़्ज़त है कि उनके नौकरों से आप तू-तड़ाक से करके नहीं बोल सकते। यहाँ अँग्रेज-वँग्रेज नहीं हैं। राव साहब से कह दीजिए।''

पहला आगंतुक कड़ककर बोला—'हैं, या नहीं यह अभी मालूम

हुआ जाता है। उसने मुंह से एक विशेष संकेत किया। गली में छिपे हुए बीस-पचीस ज़वान सामने आगए। करीम और उन तीनों लठैतों के नेत्रों के समक्ष मानो अन्धेरा छा गया। उसी पहले लट्ठबन्द ने कहा—"अब क्या कहते हो ?"

हरजूमल के एक लठैत ने जवाब दिया—"जो पहले कहा था।"

उसने एक बलवाई को संकेत करके कहा—"रज्जब, अपने पास इतना समय तो है नहीं कि हरजूमल की हवेली की भूल-भुलैयों में घण्टों ठोकरें खाते फिरें। यह देखो, उस गाड़ी के पीछे बहुत-सी घास रक्खी है। उससे काम न चले, तो तेल के कनस्तर लाओ। स्त्रियों से हमें कोई प्रयोजन नहीं। ख़बर कर दो कि सब बाहर आ जायँ। और, फिर हवेली में आग लगादो। देखें, अँगरेज़ हैं, या नहीं।" करीम घबरा उठा। तब तक दूसरे ने कहा—"मगर एक इससे भी आसान तरीका है। हवेली क्यों जलाई जाय ? रज्जब, वह सब घास इस पेड़ के नीचे लाओ, और चार रस्से तलाश करो। मुझे मुरदे के मुंह से भी बात कराने का मंत्र मालूम है, समझे। हरजूमल के ये चार नौकर तो चीज़ ही क्या हैं ?"

किसी ने भी इसे धमकी नहीं समझा। बाग़ियों ने भी नहीं, और इमली के उस विशाल वृक्ष के तले खड़े हुए उन चार प्राणियों ने भी नहीं। पेड़ से टाँगकर जीवित जलाए जाने की कल्पना-मात्र से लठैतों का सर्वाङ्ग कंटकित हो गया! उन्होंने व्याकुल दृष्टि से एक दूसरे के प्रति देखा, और मानो कहा—"अब क्या हो ?" उस कोचवान को देखा। परन्तु इस एक क्षण के भीतर ही उसकी समस्या मानो हल हो चुकी थी। वह प्रसन्न था, और उस प्रसन्नता के भीतर जीवित जल मरने की दृढ़ता और पवित्रता प्रतिफलित हो रही थी। करीम के चेहरे के इस भाव ने उन लठैतों को संक्रामित किया। उनके दुर्बल हृदयोंको बल और साहस प्रदान किया, उनके लिये उस जगह जीवित

जल कर मर जाना सहज कर दिया। लठैतों ने अपने को सँभाल लिया। मृत्यु के पवित्र तट पर खड़े हुए उन तीन व्यक्तियों की निश्चल मूक दृष्टियों ने अंत समय तक एक दूसरे के प्रति सत्यशील बने रहने की शपथ-सी ले ली। और, यह कार्य चुपचाप सबके अनजान में ही संपन्न हो गया।

रस्से आ गए। बीस के सामने चार की कुछ नहीं चली। बलवाइयों ने उन चारों को पेड़ से उलटा टाँग दिया। नीचे घास का ढेर रख दिया, और आग लगा दी। ग्रीष्म-ऋतु की प्रबल वेगवान वायु की सहायता पाकर घास तुरन्त धू-धू करके जल उठी। अग्नि की ज्वालाएँ उन चार व्यक्तियों के शरीर को क्रोड़ में भरकर ऊपर लपकीं। इमली के पत्ते झुलसने लगे, और उस वृक्ष के कोटरों में निवास करने वाले पक्षी त्रस्त-व्यस्त होकर इधर उधर उड़ गए। नीचे से ऊपर तक धुएँ का घटाटोप छा गया। चार में से तीन व्यक्तियों के अधजले शरीर रस्सी जल जाने के कारण प्रज्वलित घास के ढेर में गिरकर भुनने लगे, मगर उन्होंने मुँह से 'उफ़' तक नहीं की।

करीम अब भी लटका हुआ था। विद्रोही अब भी इस क्रूर लीला पर अंतिम पटाक्षेप करके ही वहाँ से जाना चाहते थे। उन्हें अन्त तक आशा थी कि यह बूढ़ा मुसलमान अवश्य कुछ भेद बताएगा। परन्तु करीम कह रहा था—"मैं कुछ नहीं जानता। मैं कुछ नहीं जानता। क़ुरान की क़सम, मैं कुछ नहीं जानता।"

करीम के मस्तक के बाल चिट-चिट करके जल उठे, और उनकी दुर्गन्ध से आसपास का वायु व्याकुल हो उठा।

धुआँ हवेली की सबसे ऊँची मंजिल तक पहुँच चुका था। उस मंजिल के एक सबसे छोटे झरोखे में किसी के भूरे नेत्र थोड़ी देर तक चमककर फिर अन्तर्धान हो गए। जिस अंधेरी कोठरी का वह झरोखा

है, उसमें द्वार का पता नहीं चलता। उसमें सात प्राणी बैठे मानो चारों ओर यमदूत की परछाइयाँ देख रहे हैं। उनमें से एक ने झरोखे से सिर अलग करके जीवन्मृत-जैसे व्यक्ति के स्खलित स्वर में कहा—"बाग़ी हैं।"

सुनते ही उस अँधेरे में सबके चेहरे स्याह पड़ गए।

"करीम को जला रहे हैं।"

"जला दिया?"

"हाँ।"

"वह कुछ कहेगा तो नहीं, धोखा तो नहीं देगा? हे भगवन्, रक्षा करो, रक्षा करो।"

"नहीं, वह धोखा नहीं देगा।"

वे दोनों भूरे नेत्र फिर झरोखे के पास आ लगे।

उसी समय करीम की निर्जीवप्राय, अधजली देह घास के ढेर पर गिर पड़ी। करीम के प्राण-पखेरू उड़ गए।

वे दोनों नेत्र फिर झरोखे से ग़ायब हुए। उस कोठरी में एक अस्पष्ट लहर उठी—"करीम मर गया!"

"मर गया?"

"हाँ।"

सातों प्राणियों ने एक लम्बी साँस छोड़ी। वह साँस झरोखे से बाहर निकलकर करीम के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए मानों उसकी स्वर्गीय आत्मा का अनुगमन करने चली।

पंडित इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी का जन्म सन् १९०२ में अलमोड़ा में हुआ। साहित्य और कला सम्बन्धी प्रेम आपके वंश में परंपरा से चला आता है। आपके पिता कविता, संगीत और चित्रकला के बहुज्ञ पारखी थे। आपके बड़े भाई डा० हेमचन्द्र जोशी भाषाविज्ञान के आचार्य हैं। श्री इलाचन्द्र जोशी बारह वर्ष की अवस्था से बराबर लिखते आ रहे हैं। पहले कविता लिखते थे, पीछे कहानियाँ भी लिखने लगे। जोशीजी उपन्यासकार, निबन्ध-लेखक, समीक्षक और पत्रकार भी हैं। आप अपने भाई के साथ मिलकर 'विश्वामित्र', 'विश्वप्राणी' तथा 'युगधर्म' का सम्पादन करते रहे। कुछ समय पहले तक आप 'संगम' प्रयाग के सम्पादक थे।

'घृणामयी', 'संन्यासी', 'निर्वासित' और 'मुक्तिपथ' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं और 'धूप-लता', 'दीवाली और होली' तथा 'डायरी के नीरस पन्ने' कहानी-संग्रह हैं। आपकी कहानियों में एक विशिष्टता रहती है। मनुष्य के अन्तर् की झाँकी देने, मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण करने, पीड़ित आत्मा के क्रन्दन को उद्घोषित करने तथा घृणित वृत्तियों को नंगा करने में जोशीजी ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। प्रस्तुत कहानी एक मिस्त्री की आत्म-कथा है जिन्हें हम समाज का एक हीन और हेय अंग समझते हैं, उनमें सम्भवतः अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक मानवता और

सहृदयता होती है, पर यह समाज ही उनकी हीनता और हेयता का कारण बनता है। मिस्त्री ने अपने भाई और भतीजे को शिक्षित बनाने और उन्हें सुखी रखने में कोई कसर उठा न रखी, लेकिन भाई और भावज ने अपने व्यवहार से उसे कठोर बना दिया।

कहानी करुणापूर्ण और मनोवैज्ञानिक है।

श्री जी० पी० श्रीवास्तव

प्रसिद्ध हास्यरस-लेखक श्री जी. पी. श्रीवास्तव का जन्म सन् १८६५ में हुआ। आपने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से बी. ए., एल-एल. बी. किया और फिर गोंडा (उत्तर-प्रदेश) में वकालत करते रहे हैं। आजकल गोंडा में ही रहते हैं। आपकी पहली कहानी सन् १९११ में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद 'इंदु', 'सरस्वती', 'मनोरंजन' आदि पत्रिकाओं में आपकी कहानियाँ बराबर आती रही हैं। आपकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हैं--उलटफेर, नोकझोंक, दुमदार आदमी, लतखोरीलाल, काठ का उल्लू, गुदगुदी, प्राणनाथ, लाल-बुझक्कड़, लम्बी दाढ़ी, मीठी हँसी, कमबख्ती की मार इत्यादि।

हिन्दी में हास्यरस की कहानियाँ लिखने वालों में श्रीवास्तव जी अग्रणी हैं। आपने अपनी कृतियों से हिन्दी के इस अंग को बहुत पुष्ट किया है। आपकी कहानियों का वातावरण स्वाभाविक और शिष्ट होता है। हास्य और व्यंग में कभी-कभी गँवारूपन आजाने की सम्भावना होती है, पर श्रीवास्तव जी की कहानियों में ऐसा नहीं होने पाया। यह इनकी विशेषता है। आपकी कहानियों में जीवन की सच्ची अनुभूतियों का चित्र रहता है। मनोरंजन के साथ शिक्षा देना आपका मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है।

प्रस्तुत कहानी में स्कूल के एक संस्कृत-अध्यापक पर व्यंग्य है

जो निश्चय ही सच्चा और सजीव है। विद्यार्थियों में किसी विषय के प्रति घृणा, असंतुष्टि और अरुचि का उत्तरदायित्व अध्यापक ही पर होता है। यदि वही अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन हो तो विद्यार्थी बेचारे का अहित तो होगा ही, लेकिन अध्यापक का भी हित नहीं हो सकता।

पंडित जी

(१)

जब किसी की नाक कट जाती है तो उसे ईश्वर दिखाई देता है। यह बात कहाँ तक सच है और कहाँ तक झूठ, यह तो वही जानता है। इसी तरह मैं भी लोगों के बहकाने में आ गया और फ़ारसी का पढ़ना छोड़ संस्कृत के फंदे में फँस गया। अच्छा किया या बुरा। इसकी समझ अभी कहाँ थी। परन्तु मौलवी साहब के यहाँ के मज़े पंडित जी के यहाँ न थे। न उतने लड़के, न चुहल, न छेड़छाड़, न दिल्लगी। घंटा पहाड़ हो जाता। एक तो गाँव के पंडित स्वयं गोबर गणेश—न व्यक्तित्व, न प्रभाव। दूसरे मिले दो साथी—रटने में तोता, देखने में उल्लू।

पहले ही दिन पंडित जी ने भलमनसाहत प्रगट कर दी। मुझे देखते ही चेहरा बिगड़ गया। नाक सिकोड़ कर कहने लगे—"संतों में म्लेच्छों का कहाँ प्रवेश! देवभाषा सब के लिए नहीं है। "ऐसी आवभगत देखकर अपने और संस्कृत के भाग्य को कोसता हुआ मैं बेंच के किनारे बैठ गया। ईश्वर जाने, थोड़ी देर तक पंडित जी अगड़म-बगड़म क्या बकते रहे, इसके बाद कुर्सी ही पर बैठे-बैठे सो गए। दोनों लड़के—मेरे सहपाठी, किताब खोले, सिर झुकाए न जाने ऊँघ रहे थे या किसी शब्द-विशेष को घूर रहे थे। तबीयत बड़ी घबराई। यही सोचता था कि यदि यही हालत कुछ दिनों रही तो काँजीहाउस के पशु की सी दशा हो जायगी। पहले तो घरवालों के आगे संस्कृत की निन्दा की, पर जब उन पर कुछ प्रभाव न पड़ा तो मित्रों को फाँसने की चिन्ता की। और छै-सात दिन के भीतर अपने दर्जन भर

साथियों को मौलवी साहब की कक्षा से फोड़ लाया। मगर पंडित जी की बड़ी शिकायत थी कि अब ऐसा अँधेर हो गया कि सब के सब लड़के संस्कृत पढ़ने लगे। एक दिन जैसे ही हम लोग क्लास में पहुँचे वैसे ही पंडित जी भुनभुना के कहने लगे—"सभी कुत्ते काशी चले जायेंगे तो हाँड़ी कौन चाटेगा?" आग लग गई। जी में आया कि पंडित जी समेत पुस्तकों को दियासलाई लगाओ और चल दो। उधर वे समास पूछने लगे और इधर हम लोगों ने इशारों में तय कर लिया कि कोई ठीक उत्तर न दो।

पंडित जी—'बहुव्रीहि' किसे कहते हैं?

मोहन—कहते होंगे किसी वस्तु को, पंडित जी! आपको क्या पड़ी है!

सोहन—और आप तो जानते होंगे। फिर पूछ कर क्या करेंगे?

पंडित जी—मदन तुम बोलो।

मदन—कौन, मैं! आपके सामने भला मैं क्यों बोलूं?

पंडित जी—बताओ बहुव्रीहि किसे कहते हैं?

प्रद्युम्न—क्या आप इतना भी नहीं जानते? राम, राम! मैं समझता था कि आप जानते होंगे।

पंडित—तो न बताओगे तुम लोग क्या?

मैं—पंडित जी, किताब में क्यों नहीं देख लेते?

सोहन—बहुव्रीहि के बिना क्या आपका काम नहीं चल सकता?

पंडित जी—(बिगड़ कर) अभी तुम सब को धुन के रख दूंगा।

प्रद्युम्न—इसमें क्या सन्देह है! यह तो आपके यहाँ सदा से होता आया है।

मैं--(धीरे से) केवल इतना अंतर है कि अब तक तो रूई धुनते थे, अब कुछ और धुनेंगे।

मोहन--(धीरे से) और क्या अपना सिर धुनेंगे ?

सोहन--हैं तो कुछ इसी धुन में।

पंडित जी--न मानोगे तुम लोग! बकवक लगाये ही रहोगे।

मदन--यह लीजिए। आप ही पूछते हैं और आप ही कहते हैं कि बकबक लगा रहे हो। बोलो तो आफ़त, न बोलो तो आफ़त।

मोहन--हाँ जी, इस से तो यही अच्छा है कि कोई बोले ही न।

पंडित जी--तो तुम लोगों में से किसी को नहीं आता ?

चार-पाँच एक साथ--क्या चीज ?

पंडित जी--बहुव्रीहि! बहुव्रीहि!

प्रद्युम्न--बहु बरी ?

पंडित जी--हाँ, बहुव्रीहि।

प्रद्युम्न-- इसमें क्या कठिन है! बहू बरी हो गई होंगी। या बड़ी बहू, बड़े लड़के की बीबी।

मैं--कहीं ऐसा तो नहीं है कि पंडित जी बड़ियों की बात पूछ रहे हैं--पापड़ बरी।

इतने में घंटा बजा और पंडित जी बोले--जाओ, जाओ, सिर न खाओ, तुम्हारा समय हो गया।

(२)

यों तो पंडित जी पढ़ाते-पढ़ाते हर घंटे में कुर्सी ही पर एक नींद

खींच लिया करते थे, पर आधे घंटे की छुट्टी में विशेषतया बेंच पर लेट कर सोते थे। एक दिन ऐसे ही पंडित जी निद्रा की गोद में पड़े थे कि मैं घूमता-घामता कक्षा में चला आया। देखा कि पंडित जी चारों शाने चित पड़े हैं। मेज पर पगड़ी औंधी हुई रक्खी थी। वहीं कलमदान भी पड़ा था। मैंने पगड़ी के भीतर का बीच वाला फेंटा हटाया और उस जगह नीली व लाल रौशनाई की दोनों दवातें रख कर उन्हें पगड़ी के फेंटे से ढँक दिया। बाहर आकर साथियों को जो बताया तो मोहन ने कहा कि ठहरो, मेरी भी एक बात मानो; दो-एक मेंढक पकड़ लाओ तो काम बने।

दो के बदले चार मेंढक आ गए। जूते उतार कर हम और मोहन फिर पंडित जी के कक्ष में घुसे। पंडित जी अभी तक खुर्राटे भर रहे थे। उनकी अचकन की दोनों जेबें बेंच के इधर-उधर लटक रही थीं। हमने उनकी जेबों में दो-दो मेंढक रख दिए। फिर मेंढक से भरी हुई जेबों को उठा कर पंडित जी की तोंद पर रख के भाग गए।

दो-तीन बार जो तोंद पर मेंढक उछले तो पंडित जी की आँख खुल गई। उपने पेट पर यह बेतुकी उछल-कूद देख कर मारे डर के पंडित जी चिल्ला उठे, और ऐसे घबड़ाए कि भद से बेंच के नीचे लुढ़क पड़े। जल्दी से उठ कर अचकन उतार कर दूर फेंकी। फिर जब ज़रा होश ठिकाने हुआ तो अचकन को उठा कर झाड़ने लगे। उसमें से मेंढकों को जो बारी-बारी निकलते देखा तो एकदम चकित रह गए। थोड़ी देर के बाद अचकन को फिर झाड़ा और पहन कर उठ खड़े हुए। अब पगड़ी उठा कर सिर पर औंधाई, पर ठीक न बैठी। इसलिए पगड़ी को फिर सिर से उठाया। वैसे ही दवातें झल्ल-झल्ल करती हुई उसमें से निकलीं और खोपड़ी पर तड़ाक से लग कर अलग जा गिरीं। पगड़ी, खोपड़ी, चेहरा, अचकन, धोती रँगरँगा गई। मारे क्रोध के इसी रूप में हेडमास्टर के पास दौड़े। जैसे ही अपने

कक्ष से बाहर हुए, लड़के इनके पीछे-पीछे दौड़ पड़े। हँसी से सब के पेट में बल पड़ रहे थे यहाँ तक कि चपरासी भी इनकी सूरत देख कर हँसते-हँसते लोट गया। ऑफ़िस में हेडमास्टर नहीं मिले। अब पंडित जी उनकी खोज में एक कक्षा से दूसरी और दूसरी से तीसरी में फिरने लगे। सेकेण्ड मास्टर बड़े हास्यप्रिय थे। इन्हें देखते ही पहले तो खिलखिला कर हँसे, फिर पंडित जी को बुला कर पूछा।

मास्टर—होली बधाई, पंडित जी! कहिए यह स्वाँग बना कर कहाँ चले ?

पंडित जी—हेडमास्टर के पास जा रहे हैं। हैं कहाँ पर।

मास्टर—इस रूम में!

पंडित जी—यही तो उन्हें दिखाना चाहते हैं।

मास्टर—क्या कोई सगाई-सुगाई का शगन हुआ है? बात क्या है?

पंडित जी—आज हम, सब दुष्ट लड़कों को निकलवा के छोड़ेंगे।

मास्टर—क्या किसी लड़के ने रँग दिया? कौन था, कौन?

पंडित जी—यही जो ज्ञात होता तो फिर हमीं न ठीक कर देते।

मास्टर—तो बताइए। फिर शिकायत किसकी करनें चले? जरा विराजिए तो। आप तो घोड़े पर सवार मालूम होते हैं।

पंडितजी—हमारी पगड़ी में किसी ने दवात रख दी।

मास्टर—वाह। वाह! और आप कहाँ थे?

पंडित जी—हम सो रहे थे।

मास्टर--कहाँ ? स्कूल में ?

पंडित जी--हाँ आधे घंटे की छुट्टी में।

मास्टर--अरे ! यह तो हेडमास्टर से कहिएगा भी नहीं। नहीं तो कुशल नहीं। वे पूछेंगे कि स्कूल में आप पढ़ाने आते हैं कि सोने आते हैं !

पंडित जी यह सुन कर तनिक हिचकिचाए और कुछ धीमे स्वर में बोले--छुट्टी में हम जो चाहें करें। हेडमास्टर का इसमें क्या बिगड़ता है ?

मास्टर--अगर आप ऐसा कहेंगे तो लड़के भी कहेंगे कि हम भी छुट्टी में जो चाहें सो करें।

पंडित जी घबड़ा कर बोले--तब क्या किया जाए ?

मास्टर--करना क्या है, यह तो स्पष्ट है कि जितना ही लड़कों के पीछे पड़े रहोगे उतना ही वे आपको तंग करेंगे, क्योंकि लड़के तो लड़के ही हैं। और आप को उस लड़के का नाम भी ज्ञात नहीं, फिर दंड किसे दिलवाएंगे ? दूसरे आप की यह बात भी खुल जायगी कि आप स्कूल में सोते हैं। अपने ऊपर आँच आने का डर है। इसलिए चुपचाप जाइए घर, हो सके तो कपड़े बदल कर आ जाइएगा।

पंडित जी चुपचाप घर चले गये।

(३)

संस्कृत पढ़ने वालों की संख्या बहुत कम थी। किसी कक्षा में दो, किसी में तीन लड़के थे। हमारी कक्षा में छै थे। पर ड्राइंग के खुलते ही दो ने संस्कृत छोड़ दी। एक तो संस्कृत से यों ही लोग घबड़ाते थे, दूसरे पंडित जी ने इसको और भी हौवा बना रक्खा था।

संस्कृत के विद्यार्थी प्रायः असंतुष्ट रहते थे ।

इन्हीं दिनों इन्सपेक्टर आने वाले थे । पंडित जी ने इस के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ की । बहुत सी स्तुतियाँ मस्तिष्क में तह करके बैठा ली ताकि समय पर काम आएँ । मन ही मन योजना तैयार की कि इस तरह प्रश्नों पर प्रश्न पूछते जाएँगे; लड़कों को दम मारने का भी अवकाश न देंगे; किसी ने उत्तर देने में विलम्ब किया तो धुन के रख देंगे, ताकि साहब समझ जायें कि पढ़ाई और अनुशासन दोनों में कितने कट्टर हैं ।

इन्सपेक्टर आ गए । दूसरे दिन निरीक्षण था । मगर पंडित जी की खोपड़ी और दाढ़ी मुंड़ाने का वह दिन नहीं था, इसलिए इन दोनों पर ध्यान ही नहीं गया । माथे पर बड़ा चौड़ा टीका लगाया । एक मैली फटी पुरानी धोती निकाली और उस पर अपने पितामह के समय की पुरानी मिरजई पहन ली जिस की कुहनियाँ मारे डर के पहले ही से अदृश्य हो गई थीं । पंडित जी ने यह वेश इसलिए धारण किया कि इन्स्पेक्टर साहब समझें कि इनकी दशा बड़ी शोचनीय है और बेचारे बड़े कष्ट में हैं । यह जान कर उनको दया अवश्य आएगी और फिर हमारा वेतन बढ़वा देंगे । इसके बाद भंग के दो गोले चढ़ाए ताकि "जीव तनिक करेर हो जाय ।" रास्ते भर शिव-शिव करते स्कूल पहुँचे ।

पहला घंटा जैसे-तैसे कटा । दूसरे घंटे में इन्सपेक्टर साहब बग़ल वाले कक्ष में आ गए । पंडित जी का दम घुटने लगा । हाथ-पैर फूल गए । कभी सोचते थे कि कैसी गलती हुई जो आज स्कूल आए । घर ही से अर्ज़ी भेज देते । मन में यह भी आया कि अब भी चुपचाप खिसक जायें, बाद को जो होगा वह देखा जायेगा । इस वक्त तो जान बचे । पंडित जी इसी सोच विचार में थे कि कक्ष का द्वार खुला । बाहर किसी के हाथ में साहब की टोपी दिखाई दी । पंडित जी को मारे

घबड़ाहट के कुछ न सूझा। झट से बक्स में से लुटिया निकाली, कान पर जनेऊ चढ़ाते हुए निकल गए। हेडमास्टर और इन्स्पेक्टर ने जो देखा तो वे अगले कक्ष में चले गये।

एक घंटा भर में पंडित जी लौटे और हाथ में कुछ फूल भी लेते आए। उन्होंने संभवतः समझा कि अब बला टल गई। पर बकरे की माँ कब तक खैर मनाये। आखिरी घंटे में इन्स्पेक्टर आ ही घुसे। पंडित जी तुरन्त कुर्सी छोड़ कर अलग खड़े हो गए और दोनों हाथ उठाकर चिल्लाने लगे--जय हो ! जय हो ! जय हो !

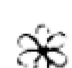
इसके पश्चात् झट से फूलों को लेकर "अहा हा ! बलिहारी महाराज, बलिहारी" कहते हुए उन के सिर पर उछाल दिया; फिर अपने स्तुति-संग्रह में से किसी समयोचित स्तुति की सोच में पड़ गये। कोई याद ही नहीं आई। घबड़ाहट में मुंह से पार्वती की स्तुति निकल पड़ी। धुन में रुके नहीं, कहते चले गए। भंग का नशा भी अब ज़ोरों पर था, इस लिए आवाज़ में कुछ लड़खड़ाहट और बेतुकी आ गई थी। सिर हिला-हिलाकर गाने लगे--

जय जय जय गिरिराज किशोरी।
जय महेश-मुख-चन्द्र चकोरी॥
जय जगबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनि द्युति गाता॥
देवि पूजि पद-कमल तुम्हारे।
सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥

मोर मनोरथ, हाँ रामा ! मोर मनोरथ जानहु नीके।
बसहु सदा उर पुर सब ही के॥

अभी स्तुति समाप्त भी न होने पाई थी कि हेडमास्टर और इन्स्पेक्टर कक्ष से चले गये थे। पंडित जी बड़े प्रसन्न थे कि साहब मेरे काम

से इतने सन्तुष्ट कि उन्हें लड़कों से कुछ पूछने की हिम्मत ही नहीं हुई ।

इन्स्पेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—मालूम हुआ है कि छै बरस से संस्कृत का कोई लड़का इस स्कूल से एन्ट्रेंस पास नहीं हुआ। कक्षाओं में भी संस्कृत में कुछ प्रगति नहीं है, विद्यार्थी भी बहुत कम हैं। पंडित हैं कि एक तमाशा हैं। इन्हें शीघ्रातिशीघ्र अध्यापन-कार्य से मुक्त किया जाये और इनकी जगह किसी योग्य व्यक्ति को रक्खा जाये जो विद्यार्थियों में संस्कृत के प्रति प्रेम और उत्साह उत्पन्न कर सके।

डॉ० धर्मवीर भारती

भारती जी का जन्म सन् १९२६ ई० में तीर्थराज प्रयाग में हुआ। आपकी शिक्षा यहीं हुई। विश्वविद्यालय प्रयाग से एम. ए. करने के बाद इस वर्ष आपने सिद्ध-साहित्य पर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की है। आप बड़े ज़ोर से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आये हैं। पिछले ८-९ वर्षों से लिखना शुरू किया है और कविता, कहानी, एकांकी, उपन्यास और आलोचना और न जाने और क्या कुछ लिख डाला है। 'गुनाहों का देवता' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आपके दो उपन्यास हैं। कहानियों के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'मुर्दों का गाँव' और 'स्वर्ग और पृथ्वी'। इनके अतिरिक्त बहुत-सी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में निकलती रहती हैं।

आपकी कथा-शैली कई प्रकार की है। कुछ कहानियों में कला और पच्चीकारी, कुछ में काव्यमय कल्पना, कुछ में बिल्कुल यथार्थ और कुछ में आदर्श चित्र रहता है। भारती जी की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है। भावानुकूल वातावरण और वातावरणानुकूल भाषा।

इस कहानी में एक जल्लाद और उसके बेटे बिसुआ की आपस में टकराती हुई भावनाओं का बहुत सुन्दर शब्द-चित्र उपस्थित किया गया है। सूअर के बच्चे को भी फाँसी देते हुए जिस लड़के का हृदय द्रवित हो जाता है वह अपने पुरखाओं का कृत्य कैसे

निभा सकेगा ! बिसुआ का चरित्र उसके बाप को भी बदल देता है।

कहानी में जेल के जल्लादों के जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है।

हरिनाकुस और उसका बेटा

(१)

उसने मिर्जई उतारकर बांस पर लटका दी, रस्सी एक ओर फेंक दी, फिर चारों ओर देखा और फटी-सी कर्कश आवाज में पुकारा—'बिसुआ ? ओ बे बिसुआ ! जाने कहाँ मर गया कम्बख्त। अच्छा वहीं होगा राजा के पास। ठहर अभी तेरी हड्डी तोड़े देता हूँ'।

उसकी आवाज ताड़ी के नशे में कांपने लगी, बदन पर अन्धेरा फिसलने लगा और आँखों में लाल रोशनी सुलग उठी। वह जात से डोम था, पेशे से जल्लाद। खानदान उसका बहुत ऊँचा और नामी था। उसके दादा ने ताँतिया भील को फांसी दी थी। उसके नाना ने अपनी जवानी में चौदह खून किये थे और जब उसे फांसी का हुक्म हुआ था तो उसी के बाप ने उसके नाना को फाँसी लगाई थी और लौट कर नौ बोतल दारू पी थी, एक सूअर की गर्दन मरोड़ दी थी और अपनी बीमार औरत का हाथ गरम कर छुली से दाग दिया था। इन्हीं सब कारणों की वजह से उसके खानदान का बड़ा नाम था और वह बिरादरी का चौधरी माना जाता था।

एक दिन जब वह जेलर साहब के बंगले पर हाजिरी बजा कर लौट रहा था तो उसे राह में धनिया मिली, उसकी बीवी की बहन, और उसने बताया कि उसकी बहिन के लड़का हुआ है, बच्चा ज़िन्दा है, मगर जच्चा के प्राण निकल गये। वह क्षणभर रुका, फिर बहुत अनासक्त भाव से हँसा, बिरह गुनगुनाता हुआ घर आया और औरत की लाश के सिराने खड़ा होकर बोला—'मर गई, चलो अच्छा हुआ।

पेट क्या था कम्बख्त का भाड़ था। जब देखो तब खाँव-खाँव ! एक से तो फुरसत मिली' ।

फिर बच्चे को उठाकर बोला--'ओह यह पिल्ला छोड़ गई है कुतिया ! और फिर कुत्तों की तरह उसके नाखून गिनकर बोला--'बीस हैं ! बाप रे बाप रे बिसहा है बिसहा ! जभी तो पैदा होते ही खा गया माँ को।'

उसके बाद धनिया से बोला--'लेजा इस पिल्ले को अपने यहाँ। मैं नहीं रखता जंगली जानवर को अपने पास'।

और तब से बिसहा अपनी मौसी के पास रहता था और मौसी ने उसके नाम का परिष्कार कर दिया था और गाँव भर उसे बिस्सू कहकर पुकारता था। बिस्सू गाँव का सबसे शरारती लड़का था और उस का सबसे प्यारा खेल था चूहे मारना। पास ही में एक सेठ का गेहूँ का गोदाम था जहाँ रोज चूहेदानी रखी जाती थी। उसका दरवान रोज चूहे लाकर डोमों की बस्ती में छोड़ जाता था। सब लड़के चूहे मारने को दौड़ पड़ते, पर बिसुआ का निशाना अचूक था। वह एक ढेले से तीन चूहे मारता था और दो ढेलों से सात। उसके बाद उन्हें लटका कर नदी पर ले जाता था। रास्ते में कोई मिलता तो कहता--'गुल-दस्ता लोगे गुलदस्ता सेठ जी।' आज तो ठाकुर जी का जनम है न ?' और नरकुल की नाव बनाकर उस पर चूहे रखकर बहा देता, और कहता—'आहा चूहे राजा की बारात जा रही है।'

एक दिन जब वह चूहे ले जा रहा था तो बाप मिला उसका। उसने पूछा--'क्यों बे बिसई ? शालन बना कर खायेगा क्या इन्हें ?

उसने जवाब दिया--'इन्हें ! ये तो बड़े छोटे हैं। उसे खाऊँगा, तोंद वाले चूहे को।'

चौधरी खुश हो गया, मन में बोला--'शाबाश ! है न आखिर

इसमें खानदान का खून ।'

धीरे-धीरे वह बिसहे को काफी चाहने लगा था। और वह उसे अपने हुनर में होशियार बना देना चाहता था। इसलिए एक दिन वह बिसहे को फाँसी दिखाने ले गया। लेकिन जब बिसहा लौटा तो बहुत सहमा हुआ था। आदमी का खून चूहे के खून से गाढ़ा होता है। वह धनिया की गोद में मुंह छिपाकर बहुत रोया, रात को सोते-सोते चीख पड़ा और बाप के पास जाने में डरने लगा। चूहे मारने की कौन कहे वह उनकी ओर देखता भी नहीं था। दिनभर या तो नदी किनारे नरकुल के भाड़ में लेट कर वाँसुरी बजाता था या चौधरी के बाड़े मे सुअरों के पास पड़ा सोता रहता था। चौधरी ने उसके यह रंग-ढंग देखे तो बहुत बिगड़ा और बोला––'कम्बख्त दोगला निकल गया। मेरा लड़का होता तो डोम होता। यह तो बाभन है बाभन। हरजई की सन्तान बाभन छिः!'

और एक दिन उसकी सुअरी ने बच्चा दिया। चितकबरा जिसके माथे पर सफ़ेद टीका था। चौधरी ने उसे उठाकर प्यार करते हुए कहा––'अरे यह राजा होगा। मेरा राजा बेटा'––उसे झुलाते हुए बोला।

धनिया बोली––'वाह रे चौधरी! तुम्हारा तो दिमाग खराब हो गया, कहीं सुअर भी राजा होते हैं।'

चौधरी बिगड़ गए––'देख औरत जात होकर जवान मत लड़ाया कर। अक्किल न सऊर चली है सास्तारथ करने, अरे राजा लोग सुअर होते हैं तो सुअर क्यों राजा नहीं हो सकते! मेरा तो राजा बेटा है!'

उसके बाद कैदी को तम्बाकू पहुँचाने के एवज में उसे बारह आने के पैसे मिले थे जिसमें वह एक घुघरूँ वाला पट्टा ले आया और

उसे पहना कर बोला——'देख री ! अपने पिल्ले से मना कर दे मेरा राजा बेटे के साथ न रहा करे नहीं तो इसे भी बिगाड़ देगा ।'

लेकिन बिसुआ मौका पाने पर बाड़े में घुस जाता था और घण्टों राजा को खिलाता रहता था ।

आज जब चौधरी ने आवाज़ दी तो वह वहाँ नहीं था । उसने दराज से झाँक कर देखा और बोला——'आज खैर नहीं है ।' काका ताड़ी के नशे में चूर था ।

चौधरी डगमगाते कदमों से झोंपड़ी की ओर बढ़ा ।

मगर जग्गू ने अपने चबूतरे से आवाज़ दी——'कहो चौधरी !' चौधरी उधर मुड़ गया और कली लेकर पीने लगा ।

'कहो आज बहुत गंगा-जल पिया है क्या ? ताड़ीघर से सीधे आ रहे हो ?'

'ताड़ी, अरे आज खून पिया है भइया खून !'

'खून ! क्यों सावन-भादों लग गया क्या चौधरी !'

'हाँ और क्या भइया, झूला डाल के आया हूँ आज !'

'आखिर किसे झुलाया रे ?'

'सो न पूछो जग्गू भइया ! इतने दिन हुए मुझे जेल में इन्हीं हाथों से बड़ी-बड़ी गर्दनों पर जाल डाला है मगर आज दिल काँप गया ।'

'अच्छा कौन था आखिर ?'

'एक लड़का अठारह बरस का, अभी दूध के दाँत भी नहीं टूटे थे ।'

'क्या औरत का गला घोंट दिया था ?'

'अरे राम कहो। कभी जान-बूझ कर फूल भी नहीं मसला होगा उसने। कैसा भोला भाला था ? चौड़ा मत्था, दुबला चेहरा बड़े-बड़े बाल। आँख छोटी थी मगर बड़ी तीखी, उजली सी। बेले की सांवली कली समझो उसे।'

'तो किया क्या था उसने ?'

अरे ऐसा हुआ जग्गू भइया कि उसने तार काटे थे; बस हो गई फाँसी !'

'अरे इतने ही पर ?'

ग्रौर क्या सरकार से लड़ना कोई हँसी खेल है। जब चाहे फांसी दे दे, जब चाहे जागीर दे दे। लेकिन भइया गजब का निडर था वह लड़का, जब फांसी चढ़ने आया तो कलहर को देखकर बोला—इस छावनी में तो आग नहीं लगाई अब वहाँ की छावनी में आग लगाने जा रहा हूँ, उसकी छावनी में जो घास फूस पैदा करता है। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने पूछा 'तेरी आखिरी ख्वाहिश क्या है', तो हँस कर बोला—'अगले जनम में तुम्हारा सगा भाई बनूं' तब तुम फांसी दो !' साहब ने मुंह फेर कर रूमाल निकाल लिया। फिर मेरी ग्रोर देख कर बोला, देर क्यों करते हो पुरोहित जी, जल्दी कंगन बाँधो, लगन टल गई तो ? बस मेरा हाथ काँप गया। पहले तो लगा जैसे आंख में आँसू आने वाले हैं फिर मैंने दिल कड़ा करके सोचा—अरे आँसू तो सब बड़े आदमियों के चोंचले होते हैं। जिसके पेट में दाना हो, तन पर कपड़ा हो उसके दीदे में आंसू भी सोहाता है। बस मैंने फन्दा डाल कर खींच ही तो दिया रस्सा। लटक गया फूल एक ही झटके में। लेकिन कैसी कच्ची गर्दन थी उसकी ! बस उसके बाद भागा मैं वहाँ से ग्रौर जन्तू की दूकान पर आधी घडिया ताड़ी पी। कैसा ऊजर फेने था, जैसे उसकी आंख'। ग्रौर सहसा उन निरीह आंखों की याद कर वह सहम गया—'अच्छा चलूं अब।'

चौधरी के हाथ से कली (हुक्का) लेते हुए जग्गू ने मुँह फेरकर हँस कर कहा—'जब चौधरी पर नशा चढ़ता है तो सब को यही किस्सा सुनाते हैं। पिछले छः साल में कम-से-कम दर्जन बार तो कहा होगा और रोज यही कहते हैं कि आज उसे लटकाया है। राम जाने कोई भूत परेत है कि रोज जी उठता है और रोज चौधरी उसे लटकाते हैं!'

चौधरी मुड़ पड़ा। उसने आग्नेय दृष्टि से जग्गू की ओर देखा और बोला—'मामा के बेटवा हो, खून का रिश्ता है नहीं तो.........
हम क्या झूठ बोलते हैं? हाँ छः साल पहले फाँसी पर लटकाया था, पर आज देखा तो जिस कप्तान ने उसे फाँसी पर लटकाया था, वो ही तमगा साजे सुपरडन्ट बन के आया है! उसके साथ कोई गाँधी टोपी वाला भी था, उसका रिश्तेदार! बस भइया! मैंने सलाम के लिये हाथ उठाया तो लगा कि जैसे फिर उसकी लास उठा लाया हूँ और फिर लास के गले में फन्दा छोड़ रहा हूँ! बताओ, ईमान धरम से बताओ, हमने झूठ कहा था कि आज लटकाया है। हम नशे में हैं......ठहर बे विसुआ ओ......'

इतने में उसने देखा कि विसुआ चुपके से बाड़े में से निकल कर जा रहा था।

'ठहर तो बे!'—उसने पुकार कर कहा।

बिसुआ रुक गया। चौधरी लड़खड़ाता हुआ उसके पास पहुँचा और भरपूर तमाचा जमा कर कहा—क्यों बे? फिर बैठा राजा के पास उसे भी बिगाड़ेगा। फिर जायेगा उसके पास? बोल! बोल!'

बिसुआ का सर घूम गया। वह क्षण भर चुप रहा, फिर तन कर बोला—'हाँ, फिर जाऊँगा, सौ बार जाऊँगा, बेईमान, कमीना,

जल्लाद काका !'

अब तो गुस्से में घी पड़ गया। वह नशे में था पर गालियाँ पहचानता था। बेईमान, कमीना तक तो गनीमत थी, यह विशेषण बड़े-बड़े आदमियों पर लगता था मगर जल्लाद; वह जल्लाद था ? उसने उठाई रस्सी और सड़ासड़ कई निशान बिसुआ की पीठ पर बन गये।

धनिया भागती हुई आई और बिसुआ को अपनी कोख में दुबका कर बोली—'मार डाल हत्यारे। मुफ्त का है न। अपने पाप की कुढ़न उस पर निकाल रहा है। खबरदार जो हाथ चलाया अब की दफे !'

चौधरी का हाथ रुक गया। वह ताड़ी के नशे में मदहोश था। उसका सिर घूम रहा था और उसके सामने बस वे दोनों उजली आँखें चमक रही थीं। वह उन्हें देखकर डर रहा था, उन्हें वह कोड़े मार कर भगाना चाहता था, मगर वे कोड़े बिस्सू पर पड़ गये थे ?

वह क्षण भर चुप रहा, फिर बोला—'लेकिन यह मुझे जल्लाद कहता है ! मेरा ही लड़का मुझे जल्लाद कहे !'

'और है नहीं तू जल्लाद, निपूते, तू तो राक्षस है राक्षस !'

'जबान सम्भाल कर बोल रे ! मैं जल्लाद हूँ ? कोई रस्सी में गाँठ लगा देने से जल्लाद हो जाता है ? जिसने आग लगाई वह कप्तान, जिसने फाँसी चढ़ाई वह जेलर और मैंने गाँठ लगाई तो मैं जल्लाद हो गया ! और राम जानता है मैंने ऐसे आहिस्ते झटका दिया था कि एक नस भी नहीं चिटकी होगी और परान तो ऐसे आहिस्ते से रेंग कर निकले होंगे जैसे छिपकिली। और उस पर मुझे यह जल्लाद कहता है ! दिन भर यही सोचता है पड़े पड़े !'

'सोचेगा क्यों नहीं पड़े-पड़े ! तेरे काम में इसकी तबियत नहीं

लगती तो क्यों नहीं भेजता स्कूल ?' वस्ती में हरिजन-सेवा वालों ने एक पाठशाला खोल रखी थी।

'हूँ: स्कूल भेज दूँ इसे और खानदान की नाक कटा दूँ! क्या सीखेगा यह गांधीवालों से ? देख आया हूँ आज उनकी करतूतें। जब फाँसी लग रही थी तो सैंकड़ों खड़े थे बाहर झंडे ले ले कर। जेलर ने कहा—लाश नहीं मिलेगी। बस वे बोले—लाश नहीं मिलेगी भाइयो, शांति से घर लौट चलो। बोलो भारत माता की जय ! और जब उस अभागे के गले में भीतर फन्दा लग रहा था तो वे गला फाड़ कर जय बोल रहे थे। तोड़ देते फाटक, घुस जाते और छीन ले जाते उसे तब जानता। यों जय चिल्लान कौन बड़ी बात है। और फिर उसी कप्तान को सुपरन्डन्ट बना दिया !'

'छि: हमारे पास इल्म है। हम कमाते खाते हैं। उनकी विद्या उन्हीं को मुबारक हो।'

बिसहा अब तक चुप खड़ा था; गुमसुम। धनिया उसे ले गई। रोटी दी। मगर रोटी उसने फेंक दी और चुपचाप एक ओर चल दिया।

'बाप से बेटा कोई कम थोड़े ही है। मुझ पर गुस्सा उतार रहा है, कमबख्त !' धनिया रुँधे गले से बोली।

बिसहा नदी किनारे गया। एक झाऊ की शाख से टिक कर खड़ा हो गया। अब उसकी आँखों से आँसू निकले और वह चीख-चीख कर रोने लगा। धीरे-धीरे वह चुप हुआ। उसने अपनी बाँह और पीठ पर नीले निशान देखे और दाँत पीसते हुए मुट्ठी बाँध कर कहा—'अच्छा देख लूंगा।' फिर जाने कौन-सा दृढ़ निश्चय कर चल दिया। झोंपड़ी में झाँक कर देखा, कोई नहीं था। फिर वह वाड़े में घुस गया और उसे गोद में उठा लिया। सुअरी ने उसकी ओर देखा तो बोला

—'क्या करूँ ? काका मुझे जल्लाद बना कर छोड़ेगा। देख न तेरे राजा की वजह से कितनी मार पड़ी है।'

और वह राजा को झोपड़ी में लाकर बोला—'अब झूलो बेटा! उसने रस्सी में फँदा डाला, बाँस में लटकाया, राजा को नीचे रख कर उसके गले का पट्टा उतारा और फन्दा उसके गले में डाल दिया। रस्सी खींचने ही वाला था कि बेबस जानवर बुरी तरह चीख उठा। बिसुआ ने रस्सी छोड़ दी और बहुत प्यार से चुमकार कर बोला—'काहे राजा भइया, भूख लगी है क्या ? अच्छा चल तुझे दूध पिला लावें। मेरा राजा भइया कोई आदमी थोड़े ही है भूखों पेट मरे।'

और उसने राजा को गोद में उठाया और थपथपा कर ले चला।

चौधरी मारपीट कर सामने वाले पीपल के पेड़ के नीचे जाकर लेट रहा था। उसे बिलकुल ध्यान नहीं था कि अभी क्या हुआ है। वह अब बिलकुल चूर था। बस अन्धेरे में बेले की पाँखुरी जैसी दो आँखें मुस्कुरा उठती थीं। थोड़ी देर बाद उसने देखा, उन आँखों में नीले डोरे उतर आये हैं, ठीक जैसे बिसुआ की पीठ पर थे। बस वह काँप उठा। उसका नशा उतर गया और सीने में पसली के नीचे उसे जाने कैसा सा लगा, कुछ खाली-खाली सा। शायद ताड़ी बासी थी, उसने सोचा—चिलम पीने से ठीक हो जायेगी। वह झोंपड़ी की ओर चला।

झोंपड़ी खोल कर उसी वक्त बिसुआ निकला। बिसुआ को देख कर चौधरी का मन जानें क्यों भर आया।

'बिस्सू बेटा।' बड़े दुलार से उसने कहा—'एक चिलम भर दो।'

बिस्सू का चेहरा डर के मारे नीला पड़ गया और राजा उसके हाथ से छूट कर गिर गया।

'ओ ! तू इसे खिला रहा है !' (बिस्सू ने उम्मीद की थी कि अब एक हाथ भरपूर कनपटी पर पड़ेगा)—'कोई बात नहीं उसे खिला ले बेटा !'

बिस्सू स्तब्ध ! आज काका को क्या हो गया ?

'अरे इसका पट्टा क्या हो गया ?' चौधरी ने कहा ।

'मैंने खोल डाला ।' बिस्सू तन गया और उसने मुट्ठी कस ली ।

'क्यों ?'

'मैं इसे लटकाने जा रहा हूँ, रस्सी से !'

चौधरी नहीं समझा—'क्यों ?'

'क्यों ? अब जल्लाद बनूंगा तेरी तरह और क्यों ?

चौधरी जल गया सिर से पैर तक । वह बढ़ा बिस्सू की ओर, पर दूसरे ही क्षण वही दोनों बेले की पाँखुरी जैसी आँखें मुस्कुरा उठीं और उसका गुस्सा घुल गया ।

'नहीं बेटे ! तू क्यों जल्लाद बनेगा ? मेरा बेटा बड़ा आदमी बनेगा । हरिनाकुस का बेटा प्रह्लाद था, मेरा बेटा बिसुआ है ।' और पास खींच कर प्यार से बोला--'कल से तू स्कूल जाना अच्छा !'

बिस्सू पहले चुप रहा फिर जाने क्यों फूट-फूट कर रो पड़ा । चौधरी का गला रुँध आया लेकिन वह बोला—'बस, बस, यह मुझे नहीं अच्छा लगता । क्या तेरी माँ मर गई जो तू रोता है । जा जेलर से कह आ कि कल से काका नौकरी नहीं करेगा—जा जल्दी ।'

बिसुआ आँसू पोंछता हुआ चल दिया ।

चौधरी क्षण भर उसे जाते हुए देखता रहा, फिर न जाने किसे

ऊपर देखकर वोला—'देखो मेरा पांव मेरे बच्चे को न लगे, नहीं तो समझ लेना—हरिनाकुस से पाला पड़ा है !'

और गमछे से खुरदरे गालों पर बहता हुआ आंसू पोंछ कर बरोसी की आग कुरेदने लगा।

श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

सक्सेना जी का जन्म सन् १६२७ में बस्ती (उत्तर-प्रदेश) में हुआ। स्थानीय स्कूल से १० वीं पास करके आपने क्वीन्स कालेज, बनारस, से इंटर की परीक्षा पास की। चार बरस प्रयाग विश्व-विद्यालय में रहकर आपने १६४८ में एम. ए. (हिन्दी) किया। तबसे यहीं रहते हैं। सरकारी नौकरी से जो समय बचा पाते हैं उसमें साहित्यिक कार्य किया करते हैं। आप एक अच्छे प्रतिभावान् कवि हैं। एकांकी, कहानियाँ और स्केच भी आपने अनेक लिखे हैं। आपकी कहानियों का एक संग्रह 'डूबता हुआ चाँद' नाम से प्रकाशित हो रहा है। आपकी कहानियों में जीवन के एक मर्म-स्पर्शी तथ्य की काव्यमय अभिव्यक्ति रहती है। रस, टेकनीक और भाषा तीनों ही में आपको बड़ी सफलता प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत कहानी में एक भगतजी का रेखा-चित्र है। पढ़ते समय पाठकों को ऐसा लगने लगता है कि ऐसा चरित्र हमने भी कहीं देखा है। जो जन-साधारण के लिए बहुत भला, बड़ा लोकप्रिय, बाल-बच्चे, बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष सब के साथ सहानुभूति रखने वाला, सार्वजनिक कार्यों में आगे-आगे रहने वाला, धर्म के क्षेत्र में मान्य, बड़ा संत और सब कुछ होता है, पर जो निकटतम लोगों के लिए घृणित और ढोंगी होता है। उसमें एक ऐसा व्यक्तिगत

अवगुण होता है जो उसके सारे किये-कराये पर पानी फेरने के लिए काफ़ी है। ऐसे लोगों ही के सम्बन्ध में किसी ने कहा है—
भोली-भाली शक्ल वाले होते हैं जल्लाद भी।

भगत जी

मैं टाँगे से उतर पड़ा। सड़क पर काफ़ी भीड़ जमा थी। रास्ता एकदम रुक गया था। कौतूहलवश एक तरफ से भीड़ में घुसकर जो मैंने देखा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक दुबला-पतला, गोरे रंग का बूढ़ा आदमी, नंगे बदन पर केवल एक लाल अंगोछा लपेटे एक अजीब भाव-मुद्रा में खड़ा था। उसकी आँखें ऊपर आकाश की ओर गड़ी हुई थीं जहाँ डूबते हुए सूरज का दामन पकड़े अनेकों रक्त-स्नात मेघखंड जीवनहीन सहमे-सहमे पड़े थे। वह घुटने मोड़कर इस तरह से उन रक्तस्नात बादलों की ओर अपनी लाल-लाल आँखों से देख रहा था मानो किसी भी क्षण वह एक छलाँग में आकाश में पहुँच जावेगा। उसके हाथ में एक मोटा बाँस का डंडा था, जिसे वह दोनों हाथों से बन्दूक की तरह पकड़ कर आकाश की ओर उठाए उन बादलों के पार छिपे विचार के किसी खूनी पंछी पर निशाना साध रहा था। अचानक वह डंडे को और ऊँचा उठाकर चिल्लाया—

चल बे डंडे तू आसमान को
जगा दे सोते हुए इन्सान को !

और फिर वह इधर-उधर उछल कर बड़ी भयानक मुद्रा में, उसी भारी आवाज में उसे दोहराने लगा। चारों तरफ़ दर्शक मौन थे। हास्य की उठती हुई लहर रुक गई थी और उस पर आश्चर्य-मिश्रित नीरवता का घना कोहरा छा गया था। मैं आश्चर्य कर रहा था कि इस दो हड्डी के आदमी की आवाज़ में कैसे इतनी गरज है। अचानक वह रुक गया और भीड़ को इस प्रकार देखने लगा जैसे उसे अब इस स्थिति का भान हुआ हो। उसने सड़क पर रक्खी अपनी

पोटली उठाई और स्वाभाविक स्वर में बोला——"जाओ-जाओ इतनी भीड़ कर दी कि रास्ता रुक गया।" सब लोग खिसकने लगे और वह स्वयं अपना मोटा सोंटा उठा कर समीप की गली में घुस गया। । मुझे नहीं मालूम कि यह नाटक कितनी देर से चल रहा था, लेकिन मेरे देखते-देखते यह एक मिनट में ही समाप्त हो गया।

टाँगे पर बैठते हुए टाँगे वाला बोला——"भगत जी बड़े मजे के आदमी हैं, सरकार!" और कुछ देर रुक कर घोड़े को उसी गली में मोड़ते हुए फिर बोला——"हुजूर, कुछ लोग कहते हैं यह बहुत पहुँचे हुए आदमी हैं।"

टांगा गली के ऊबड़-खाबड़ कंकड़ों और ईटों पर कुछ देर खड़-खड़ाता और हचकोले खाता रहा और फिर हम लोग एक मकान के सामने थे जिसके भीतर जाने के लिए एक लोहे का फाटक था, जो खुला पड़ा था। एक हाथ में पानी से भरी बाल्टी लिए एक जवान लड़की मुस्कराती हुई उसमें से निकल रही थी। समीप म्युनिसिपैलिटी के लैम्प की लाल रोशनी उस साँझ के धुंधलके में, रात की प्रतीक्षा में निरर्थक सी फैली हुई थी। घोड़े ने गरदन लटका ली थी। टाँगे वाला पैसे गिन रहा था। किसी पुरानी सराय-सा उदास वह लोहे का फाटक खुला था, लेकिन घने धुएँ के कारण भीतर कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। सामने तमाम गंदा कूड़ा छितरा हुआ था। उस कस्बे में में पहिली वार गया था। यहाँ मेरी बड़ी साली रहती थी। शान्ति उसका नाम था। यह मकान उसी का था। कुछ देर बक्स लिए मैं खड़ा ही रह गया। अंत में जब फाटक में प्रवेश करने ही लगा कि पीछे से आवाज़ आई——"ओ जी, भगत जो, क्या है पोटली में ?" वह लड़की खिलखिला कर कह रही थी। मैं भगत जी के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही भीतर चला गया।

पहले एक छोटा-सा सहन था, जिसमें एक कुआँ था। जहाँ से वह

पानी ले गई थी। कुएँ की जगत के पास ही गर्मी से झुलसी हुई पोदीने की क्यारियाँ थीं। दालान में कंडा सुलग रहा था, जिसका घना धुआँ घुट रहा था। किसी तरह धुएँ को पार करके मैं दरवाजे तक पहुँचा, आवाज़ दी—"शान्ति!"

दरवाजा खुला। मुझे देखते ही वह खुशी भर कर चिल्लाई—"ओह तुम आ गए!" और फिर बाहर के फैले धुएँ की ओर देख कर बोली—"भगत जी के मारे नाक में दम है, कितना धुआँ कर रक्खा है! जल्दी भीतर आ जाओ।"

मैं भीतर चला गया। उसने द्वार पुनः बंद कर दिया। भीतर मकान काफ़ी बड़ा, खुला और साफ-सुथरा था। कुछ आराम की साँस आई। आँगन में शान्ति के पति बैठे थे, मेरे साँढ़ू; दौड़कर लिपट गए।

शांति बोली—"चलो आ तो गए! हम लोग सोचते थे, पता नहीं क्या बात है! न तो चिट्ठियों के जवाब ही देते और न आते ही हैं।...अरे, मैं तो भूल ही गई थी, तुम से तो बोलना ही नहीं था, मेरा तुम्हारा तो झगड़ा है।" और वह आँगन के बगल के रसोई-घर में चली गई।

उसकी बात अनसुनी करके मैंने उसके पति से पूछा—"यह भगत जी क्या हैं? रास्ते भर उनका चमत्कार देखता आया हूँ।" वे बड़े ज़ोर से हँस कर बोले—"दो-एक दिन रहोगे तो अपने आप मालूम हो जायगा।"

शान्ति ने शायद हम लोगों की बात पूरी नहीं सुनी। लेकिन भगत जी के नाम की भनक उसके कानों तक जरूर पहुँच गई। वह वहीं से चिल्लाई—"अरे भैया, यह सब इन्हीं के कारण है। बाहर बैठक के साथ वाली कोठरी उसे यों ही दे रक्खी है। वह ऐसे ही

धुआँ-धक्कड़, शोर-गुल किया करते हैं।"

वे ज़ोर से बोले--"तो निकाल क्यों नहीं देती हो ?"

वह बोली--"मैं क्यों बुरी बनूं ?"

"यह खूब कही। जब उस बार मैं निकालने चला था तो रोक क्यों दिया था ?"

"किसी को शरण देकर फिर दुत्कार देना सबसे ज्यादा बुरा है। पहले शरण ही न दी होती !"

यह बहस शायद थोड़ी देर और चली होगी, मैं तब तक कपड़े इत्यादि उतार कर नहाने की तैयारी करता रहा। बाहर कुएँ पर जब नहाने पहुँचा तब भगत जी पानी भर रहे थे। मुझे देखते ही अपनी सफ़ेद-सफ़ेद मूंछों में से बोले---"जय गुरु साहब की !" शांति तौलिया साबुन पहले ही रख गई थी और भगत जी यह जान कर कि कोई नहाने वाला आया है पानी भरने लगे थे। बाद में ज्ञात हुआ कि अपने सामने वे किसी को पानी नहीं भरने देते थे। भगत जी ने बाल्टियाँ भर कर रख दीं और मैं नहाने लगा। वह अपनी कोठरी के बाहर दालान में बैठ कर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। तभी वह लड़की आई जो फाटक पर टाँगे से उतरते समय मिली थी। भगत जी के पास आकर बोली---"लाओ-लाओ, अपनी पोटली दिखाओ।" और भगत जी चिल्ला रहे थे, "देखो-देखो, सब मत ले जाना, कुछ दूसरे बच्चों को भी देंगे।" छीना-झपटी में वह लड़की सब ले दे के चम्पत हो गई।

भीतर जाने पर शांति ने बताया कि भगत जी आजकल एक मिठाई की दूकान पर काम करते हैं। रात को छुट्टी करते समय इन्हें रोज मिठाई मिलती है जो ये बच्चों में बाँट देते हैं। लोगों का कहना है कि जब से भगत जी इस दुकान पर काम करने लगे हैं, तब से वह

बढ़ती ही चली जा रही है। पहले ये खोंचा लगाया करते थे-- चाट वग़ैरह बनाकर स्कूल में ले जाया करते थे। लड़कों की भीड़ श्रौर शोर गुल में ये हिसाब भूल जाते थे। घर पर जो कुछ बचकर आता था ये मोहल्ले की लड़कियाँ छीना-झपटी करके साफ़ कर देती थीं। लेकिन भगत जी इस से बुरा नहीं मानते, उन्हें अच्छा लगता है।

रात में सोते समय तक भगत जी बाहर खटपट करते रहे। मालूम हुआ भगत जी यों ही बाहर एक बजे तक खाना बनाया खाया करते हैं। दिन में खाना बनाने की फुरसत नहीं मिलती, रात ही में दोनों वक्त का खाना बना लेते हैं। इनके सारे फालतू काम रात में होते हैं—खाना बनाना, बरतन माँजना, कपड़े धोना, इत्यादि।

प्रात: चार बजे ही मेरी आँख खुल गई। मैं छत पर लेटा हुआ था। आकाश में तारे चमक रहे थे। चाँद की रोशनी कुछ फीकी पड़ रही थी। हवा में ठंढक आ गई थी। अभी चारों श्रोर श्रँधेरा छाया हुआ था। भगत जी ज़ोर-ज़ोर से गा रहे थे—

'प्रीतम की डगरिया बता दे कोई।'

शांति की भी आँख खुल गई, झुँझला कर बोली--"रोज चार बजे से ऐसे ही उल्टा-सीधा अलापने लगते हैं, नींद हराम कर देते हैं। इस आदमी की आँख में सनीचर है। दो बजे सोयगा तो भी चार बजे उठ जायगा।" वह इतना बड़बड़ाकर करवट बदल फिर सो गई। लेकिन मेरी आँखों में नींद नहीं थी। भगत जी एक के बाद एक कबीर का पद गाते हुए चले जा रहे थे—"नैहरवा हमका नहिं भावे", "जाग पियारी अब का सोवे, रैन गई दिन काहे को खोवे", "हटरी छोड़ चला बनजारा", "हरि बिन भरम विगूते श्रंधा", "हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव', "घूंघट का पट खोल रे तेरे पीव मिलेंगे।" प्रात:काल झुटपुटे की नीरव गोद में कबीर के ये भजन

कितनें प्यारे लग रहे थे, मैं नहीं कह सकता। सुनते-सुनते मेरी आँखें झपक गईं थीं। थोड़ी देर बाद जब आँख खुली तो सूरज निकलने वाला था, भगत जी वैसे गाये जा रहे थे--"झगरा एक नबेरहु राम", "अब न भजसि भजसि कब भाई", "कहत कबीर सुनहु रे संतो", इत्यादि। उनके चारों ओर मुंडेरी पर बन्दर बैठे थे।

हम लोग नींद का खुमार आँखों में भरे हुए उतर कर नीचें आए। तब तक भगत जी सहन में झाड़ू लगा चुके थे और फाटक पर का कूड़ा इकट्ठा करके टोकरी में भर रहे थे। ज्ञात हुआ कि मोहल्ले भर का कूड़ा उस फाटक पर रात भर जमा होता है और दूसरे दिन सुबह भगत जो उसे उठाकर मेहतरों की गाड़ी में फेंक आते हैं। हम लोग बैठे बदन ही तोड़ रहे थे कि भगत जी नहा-धोकर तैयार हो गए। मोहल्ले के लोग उठ-उठ कर आँखों में नींद भरे जम्हाई लेते आने लगे। भगत जी की चिलम भरी-भराई तैयार थी। एक-एक कश लगाकर सब चले गये। भगत जी कुछ होंठों ही होंठों में कह रहे थे और मन ही मन बड़बड़ाते थे। बीच-बीच में प्रत्येक आगन्तुक को देखकर बोल देते थे--"जय गुरु साहब की। बैठो चिलम पियो, अमुक नहीं आया?" मुझे लगा जैसे वह चिलम हाजिरी का रजिस्टर है, सब का आना ज़रूरी है। आधे घंटे तक आना-जाना लगा ही रहा मोहल्ले भर के नवयुवक और वृद्ध हाजिरी दे गए। आते सभी थे--कुछ तो घर की तम्बाकू की बचत के लिए और कुछ इस आशा में कि उनकी चिलम सफलता की प्रतीक बन गई है, एक फूंक मार ली तो दिन अच्छा कटेगा। और कुछ अड्डेबाजी की नियत से। उस आधे एक घंटे में ही वहाँ की बैठक तत्कालीन राजनीतिक तथा गत दिवस के झगड़ों और समाचारों पर वाद-विवाद करके समाप्त हो जाती थी। भगत जी तभी बोलते थे जब कोई मामला बहुत उलझ जाता था, और वह भी पहेली या सूक्ति शैली में। लोग उसका

मज़ाक भी उड़ाते थे और जब वे कोई बात कह देते थे सब अदब से मान भी लेते थे। किसी के मज़ाक का वे बुरा नहीं मानते थे बल्कि अपनी सफ़ेद मूंछों में से मुस्करा देते थे। कभी-कभी जब कोई बहस व्यक्तिगत आरोपों के रूप में परिवर्तित होने लगती, तब भगत जी किसी संत का पद ज़ोर-ज़ोर से गाने लगते। उन्हें कबीर, दादू, पल्टू, सुन्दरदास, तुलसी, दरिया, मलूकदास, भीखा, चरनदास आदि सभी साहबों की वाणियाँ याद थीं। मैं तीन चार दिन वहाँ रहकर भी इस बात की थाह न पा सका कि उन्हें कितनी वाणियाँ याद हैं। उनकी इस बैठक में मोहल्ले के इनें-गिने अँगरेज़ी पढ़े-लिखे बाबुओं को छोड़ कर सभी आते थे--टाँगेवाले, ठेलेवाले से लेकर मामूली दुकानदार, मास्टर साहब और मुख्तार साहब तक।

थोड़ी देर बाद चिलम पीकर लोग चले गये। मोहल्ले की लड़कियाँ अपनी-अपनी बाल्टियाँ और गगरे लेकर आनें लगीं। भगत जी उनका पानी खींचने लगे और वे ठठोली करने लगीं। एक नें कहा--"अच्छा भगत जी, कल शाम आपने सारी मिठाई कुन्ती ही को दे दी, हम लोगों के लिए कुछ भी नहीं छोड़ी!'

भगत जी बोले—"आज तुम्हें ला दूंगा।"

एक और लड़की नें कहा—भगत जी, आप सबेरे-सबेरे जगा देते हैं। आप को नींद नहीं पड़ती क्या?"

भगत जी बोले—"ये हरि-दरसन की प्यासी आँखें लगती ही नहीं।"

कोई लड़की शरारत करती तो जोर से डांट देते--शादी हो जायगी तो सब भूल जाओगी और जब वह झेंप जाती तो गाने लगते—

नैहरवा हमको न भावे
साईं की नगर परम अति सुन्दर
जहँ कोई जाय न आवे

कभी-कभी अवसरानुसार वे ऐसे-ऐसे पद और साखी कह जाते कि मुझे आश्चर्य होता, लेकिन लोग इसको भगत जी की आदत समझ, बेकार जान अनसुना कर देते।

लड़कियों का जमघट हटा तो भगत जी नें दुकान के लिए चलने की तैयारी की। सोटा उठाया, कंधे पर लाल अँगोछा डाला और चलने को तैयार भी हो गए। तभी मैंने उनसे कहा—"आज प्रातः आपने कबीर के बहुत सुन्दर पद पढ़े।"

भगत जी मेरी इस प्रशंसा से प्रसन्न अवश्य हुए। परन्तु टालते हुए बोले—"सब गुरू लोगों की कृपा है।" और फिर मेरे बारे में समीप बैठे शांति के पति से पूछने लगे। उन्होंने मेरे बारे में बताते हुए मज़ाक में यह भी कहा—"अरे यह महाशय संतों की यह वाणी पढ़े हुए हैं, बस सांवलदास जी की बाकी है।"

भगत जी अपने को सांवलदास कहते थे। उनकी बात सुनकर बोले—"अरे अब क्या है? अब तो······; कहकर उन्होंने एक ऐसा पद साँवलदास का सुनाया जिसमें उनकी दूकान की सभी मिठाइयों के नाम थे। पद बड़ा लम्बा था। खतम करके बोले—"यह सब माया रूपी हलवाई का खेल है, संतों के समझने की चीज है।" उनके पद सुनकर लोग साधारणतया खूब हँसते थे। मेरे न हँसने से वे जैसे बहुत प्रभावित हुए। मेरी तारीफ़ करते हुए बोले—"आप ज्ञानी संत हैं, आप ही भेद समझ सकते हैं। भेद-भेद की बात है। बाहर भीतर पानी है। कुम्भ सबसे नहीं टूटता। आप भाग्यवान हैं।" और चले गए।

दोपहर भर शांति और शांति के पति झगड़ते रहे। शांति के पति का कहना था कि भगत जी बहुत पहुँचे हुए महात्मा हैं, और शांति उनको पागल, सनकी और दम्भी मानती थी। मैं उन दोनों की बहस में, जिसका पलड़ा हल्का पड़ने लगता, उसकी तरफ़ से बोलकर, केवल इतना हिस्सा ले रहा था, जिससे वह और बढ़ती रहे।

मुझे मालूम हुआ कि भगत जी ने उन्नीस सौ बयालीस के आंदोलन में भी भाग लिया था। वे आधी रात को सूनी निर्जन सड़कों और गलियों में पागलों की तरह चिल्ला-चिल्लाकर अँगरेज़ों के विरुद्ध भाषण देते और तुक भिड़ा-भिड़ाकर पद पढ़ते। थानें और कोतवाली के समीप अपनी धूनी रमाते, पद गाते, खुले आम अँगरेज़ी पदाधिकारियों को गालियाँ सुनाते, पुलिस वाले उनकी धूनी से बीड़ी सुलगाते, उनकी चिलम पीते और उनके पागलपन से अपना मनोरंजन करते, जबकि भगत जी इस बहाने उनकी गतिविधि पर पूरी नज़र रखते।

आज़ादी के बाद साम्प्रदायिक दंगों में भगत जी ने सड़कों पर नाच-नाचकर हिन्दू-मुस्लिम एकता के पद गाए, दोनों तरफ के गुंडों को अपनी चिलम पिलाई, उनके मन की भड़क सुनी, उनको सूक्ति-शैली में उपदेश दिए। एक बार भगत जी कहीं ग़ायब हो गए। किसी मुसीबत में मुसलमान परिवार को कहीं सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने गए थे। हिन्दुओं ने मुसलमानों पर, मुसलमानों ने हिन्दुओं पर आशंका की। बड़ी भीषण तैयारियाँ हुईं। तभी भगत जी सड़कों पर फूटा कनस्तर बजाकर गाते हुए प्रकट हुए—"या जग अंधा मैं केहि समझावौं।"

दोपहर भर दम्पति की बहस चलती रही और मुझे इस प्रकार की छोटी-बड़ी बहुत सी बातें मालूम होती रहीं। बहस ही बहस में साँझ हो गई। भगत जी द्वार पर आ गए थे। मैं बाहर चला गया।

भगत जी ने एक दोना मिठाइयों का मेरे हाथ पर रक्खा और मुझे खाने को कह मेरे लिए कुएँ से पानी भरने लगे और लोटा माँजने लगे। उस समय भगत जी बहुत मौन थे। मैंने कारण पूछा तो बोले––सूक्ति-शैली में––

जो गुप्ता सो लुप्ता
जो प्रगटा सो नष्टा।

थोड़ी देर बाद मैंने फिर पूछा––"भगत जी, आपका परिवार नहीं है क्या ?"

भगत जी ने ज़ोर से चिलम का कश लगाया और धुआँ उगलते हुए बोले—"अरे अब न फल है न फूल, न पल्लव, सूखा ठूंठ खड़ा है। आजकल में दुनिया जला के ताप लेगी।" एक-एक शब्द में जैसे वेदना ऐंठ रही हो। मैं चुप हो गया और भगत जी शायद मन के किसी उभड़े हुए करुण भाव को दबाने के लिए ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर गाने लगे—"मन फूला-फूला फिरे जगत में कैसा नाता रे।" और सोटा उठाकर बाहर निकल गए।

चौथे दिन जब मैं चलने लगा तो भगत जी नहीं थे। वे एक दिन पहले ही से कहीं लापता हो गए थे। शांति बोली—"मुझे सब मालूम है। बड़े भगत बने हैं।" लेकिन न तो उसने कुछ बताया ही और न मैंने पूछा ही।

आज मुझे वहाँ से आए तीन मास हो गए हैं। शांति की चिट्ठी आई है। उसमें लिखा है—"...... भगत जी के मन की मुराद पूरी हो गई। बेचारे को बड़ी लम्बी प्रतिक्षा करनी पड़ी। मन्नतें मानते-मानते तब कहीं उसकी भौजाई मरी। मरते ही उसकी सारी सम्पत्ति चुपचाप हड़प करके बैठ गया है। लेकिन सूम तो वैसा ही है। अब भी अँगोछा लगाए रहता है। हाय रे लालच ! पता नहीं क्या करेगा

इतनी सम्पत्ति? रोज मनाता था, कब भौजाई मरे! सोने की टिखटी बनवाएगा और क्या! बड़े अच्छे हैं भगत जी आप लोगों के—पूजिए इन्हें! मैं तो पहले जानती थी। मैं कहती थी ना कि दम्भी हैं, पाखंडी हैं, बने हुए हैं। कहिए, अब भी उनकी अच्छाई का डंका बजाएंगे?......। शांति के पति की भी चिट्ठी आई है जिसमें उन्होंने विस्तार से बताया है कि भगत जी पीड़ित जनता की सामूहिक हित-साधना के कामों में किस प्रकट और गुप्त रूपों से जुटे रहते हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि पति-पत्नी की इन परस्पर-विरोधी 'रिपोर्टों' में सामंजस्य का सूत्र कहां पर हो सकता है।



श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

प्रगतिशील महिला-साहित्यकारों में श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का भी प्रतिष्ठित स्थान है। आपके पति श्री कांतिचन्द्र सौनरेक्सा भी प्रसिद्ध कथाकारों में हैं। आप अलीगढ़ के रहने वाले हैं और आजकल बलिया (उत्तर-प्रदेश) में डिप्टी कलक्टर लगे हुए हैं। श्रीमती चन्द्रकिरण १५-१६ वर्ष की अवस्था से बराबर लिख रही हैं। विवाह से पूर्व 'चाँद', 'माया', 'शान्ति', 'महिला' आदि पत्रिकाओं में लिखती थीं। फिर इन की कहानियाँ 'हंस', 'आज', और 'अभ्युदय' में प्रकाशित होने लगीं। कुल २००-२५० कहानियाँ निकल चुकी हैं।

प्रस्तुत कहानी आपके संग्रह "आदम-खोर" में से ली गई है। इस में आजकल की पढ़ी-लिखी उन स्त्रियों पर अच्छा व्यंग्य है जो घर का काम-काज करने की कोई भी योग्यता नहीं रखतीं। पुस्तक-ज्ञान और अनुभव में, कथनी और करनी में बड़ा अंतर है, यह सुरेखा के उन कार्यों से दिखाया गया है जो वह अपनी ननद की अनुपस्थिति में करती है। आखिर उसके पति अपनी जीजी को वापस लाते हैं, क्योंकि जीजी के बिना न खाने में आनन्द आता है न चाय में। घर ही चौपट हो रहा है।

कहानी में अनुभव की गहराई, मानव-जीवन का स्वाभाविक चित्रण, सामाजिक और पारिवारिक समस्या का यथार्थ संकेत,

नारी-चरित्र का गहरा विश्लेषण, आदि अनेक गुण हैं। भाषा सीधी-सादी और प्रवाहयुक्त है। कथोपकथन की शैली नाटक का सा आनन्द देती है। छोटे-छोटे वाक्यों में बड़ी व्यंजना भरी है। यथार्थ-चित्रण में कितना सौंदर्य है, यह श्रीमती सौनरेक्सा की इस प्रकार की अनेक कहानियों से विदित होता है।

जीजी

"यही हैं ?" आश्चर्य से इन्दु ने पूछा।

"हाँ" उपेक्षा से गर्दन हिला कर सुरेखा ने उत्तर दिया।

"अरे--" इन्दु ने एक टुकड़ा समोसे का मुंह में रखते-रखते कहा--

"अच्छा हुआ सुरेखा तुमने मुझे बता दिया, नहीं सच जानो मैं तो कहने वाली थी कि मिश्रानी जी से समोसे तो तुम बहुत बढ़िया बना लेती हो।"

"ऊँह तो क्या होता-- इन्हें कोई देखने वाला इससे अधिक समझ भी क्या सकता है ? दिन भर हाथ में झाड़ू लिए घर की सफाई में जुटी रहती हैं। पोजीशन का ख़याल तो इन्हें कतई है ही नहीं ! मुझे तो बड़ी शरम लगती है इन्हें अपनी ननद बताते।"

"शायद गाँव में रही हैं ?"

"कोई भी नहीं"--सुरेखा ने मुंह बिचका कर कहा,--शहर में पैदा हुईं, शहर में पलीं, विवाह बेशक गाँव में हुआ था, किन्तु वहाँ रहीं कितने दिन ? जभी विधवा हो गईं और तब से बारह साल होने आये, यही हैं। पर इस घर की तो क्लाइमेट ही बिगाड़ी हुई है। लीला को ही लो, उसे कोई कहेगा भला कि नाइंथ में पढ़ती हैं ? नारायण और जगदीश की तो कुछ पूछो मत, ढंग से कपड़े पहिनने नहीं आते--"

"पर मिस्टर गिरीश तो ऐसे नहीं हैं ?"

"वह तो हमेशा इलाहाबाद में रहे हैं। नहीं तो शायद अपनी इन जीजी रानी के अंडर में रह कर वह भी बछिया के ताऊ ही रह जाते.... !"

इन्दु धीरे-धीरे हँसने लगी।

बाहर से लक्ष्मी ने पुकार कर कहा—"बहू। कुछ चाहिए तो मोहन से कह देना। मैं ज़रा जप करने बैठूं हूँ।"

सुरेखा के माथे पर बल पड़ गये। बोली—"कितनी बार कह चुकी हूँ कि मुझे बहू न कहा करो, मानती ही नहीं।"

"तो क्या हरज है, कहने दे। लेकिन यह ठीक दोपहर को जप कैसा होगा ?"

"इनकी लीला ही निराली है। यही जानें—"सुरेखा ने उपेक्षा से कहा—'ईश्वर जाने किस धातु की बनी हैं। दिसम्बर की इस भरी सरदी में चार बजे सबेरे बर्फ जैसे ठंडे पानी से नहाती हैं। फिर तीन घंटे जप करती हैं। आज मोहना को बुखार था। इसी से गाय की सानी-पानी के झंझट में आधा जप कर पाई थीं।"

इन्दु ने आश्चर्य से एक लम्बी साँस छोड़ी—"बापरे ! ठंडे पानी में नहाना !"

"बस कुछ पूछो मत। चाहे सारा दिन बीत जाय, पर जब तक उस शालिग्राम की बठिया को दो लोटे जल में डुबकी न दे लें, मजाल क्या जोकि बूंद भी पानी गले के नीचे उतारती हों। दो-दो नौकर हैं, मिश्रानी है। फिर भी खिटपिट कर सारा दिन जाने किन कामों में गवाँ देती हैं और हर तीसरे दिन एकादशी पूरनमासी के व्रत करती रहती हैं....!"

"तेरे रंग-ढंग तो इन्हें काहे को पसंद आते होंगे ?"—इन्दु ने

मुस्करा कर पूछा।

'न आवें, मेरी बला से। यहाँ परवाह कौन करता है ? मैं तो वही आठ बजे सोकर उठती हूँ; तब तक सब काम हुआ पाता है। मेरी चाय तक टेबिल पर रखी होती है—बात यह है कि होतीं कोई अनपढ़ गंवार लड़की, तो यह उसे जरूर दबा लेतीं !''

''पर यहां तो श्रीमती सुरेखा रानी आई० ए० से पाला पड़ा है न,'' इन्दु बीच में ही बोल उठी,. . . ''चल 'कुकर' बहुत अच्छी हैं, तुझे तो फ़ायदा ही है !''

''फायदा क्या ? मिश्रानी तो रखनी ही पड़ती है। पर जब तक चार तरकारियाँ अपने हाथ से न बना लें, तब तक इन्हें चैन थोड़े ही पड़ता है। मुझे तो बड़ा गुस्सा आता है। सारे नौकरों की आदतें खराब कर दी हैं, आधा काम बटा लेती हैं उनका ! दो-दो नौकर हैं, फिर भी जगदीश और नारायण को अपना दोपहर का भोजन करने स्कूल से आना पड़ता है। माना स्कूल दस कदम पर है, लेकिन नौकर होते आखिर किस मर्ज की दवा हैं ? लीला को देखो संस्कृत के सैंकड़ों श्लोक रटे बैठी है। तुलसी और सूर को घोट कर पी गई है। लेकिन इंगलिश इतनी भी नहीं कि एक मामूली लेटर तो लिख ले. . . . ?''

इन्दु थोड़ी देर और बैठी, फिर चली गई। मामा के यहाँ आई हुई थी, सो सुरेखा से मिलने चली आई। पार साल तक दोनों एक ही कालिज में पढ़ती रही थीं।

सुरेखा ईजीचेयर पर पड़ी-पड़ी उपन्यास पढ़ने लगी। फिर सो गई।

सूरज का गोला जब चक्कर खा कर पश्चिम के अतल नील जल में डूब गया। तब सुरेखा की नींद टूटी। सुना लक्ष्मी पुकार रही थी —''बहू ! ओ बहू।''

"क्या है जीजी ?" सुरेखा ने चिढ़े हुए स्वर में ऊपर से ही पूछा।

"नीचे तो आओ ज़रा--"

सुरेखा की इच्छा हुई न जाय। फिर जाने क्या सोच कर शीशे के सामने आ खड़ी हुई। बाल संवारे। मुंह पर जरा सी क्रीम मली और नीचे उतर आई।

"क्या काम है ?"--कुछ तनिक कर, कुछ ठसक कर जैसी बोली।

"काम तो कुछ नहीं"--लक्ष्मी गाय के लिये दाना दलते-दलते बोली--संध्या बेला बहू बेटियों को लेटे न रहना चाहिए। आरती का समय भी होने आया है।"

"आरती !" सुरेखा तनिक कर बोली "बस इसीलिए मुझे कच्ची नींद जगा कर सर में दर्द कर दिया--!"

* * *

सारा चौका दुबारा धुला। चूल्हा पोता गया। फिर गंगा जल छिड़कने के बाद चूल्हे में आँच जली। तवे को चिमटे समीत उठा कर लक्ष्मी नें दूर फेंक दिया और मिश्रानी से बोली "अब से मेरी कच्ची रसोई में कभी हाथ मत लगाना ! . . .समझी !"

मिश्रानी चिढ़ उठी,--जीजी ! तो मुझ पर क्यों बिगड़ रही हो ? बहू रानी ने कहा तो मैंने अंडे बना दिये-!"

"बहू रानी ने कहा और तूने बना दिये। भली ब्राह्मणी है तू तो। यह काम मोहना नहीं कर सकता था क्या ? और फिर रसोई घर में बनाने की क्या जरूरत थी ? अलहदा अँगीठी रख कर क्यों न बनाये ?"

मिश्रानी मुंह भारी करके ऊपर चली गई।

सुरेखा बैठी हुई आमलेट खा रही थी। नीचे की कुछ कुछ भनक उसके कानों में भी पड़ गई थी।

"क्या हुआ मिश्रानी जी?"

"हुआ क्या बहूरानी, तुम मेरी नौकरी छुड़ाओगी। देखो जीजी कितनी बिगड़ रही है!"

"वे कौन होती हैं नौकरी से हटाने वाली! मैं न चाहूँगी तो वे कैसे निकाल देंगीं तुम्हें?" सुरेखा ने प्लेट एक तरफ हटा कर रूमाल से मुंह पोंछते हुए कहा।

"सो तो ठीक है बहूरानी"—मिश्रानी का स्वर धीमा पड़ा—"पर बहू जी हुकम तो वह ऐसा ही चाहती हैं—भला इतना परहेज कौन निभा सकता है? तुम्हें तो जैसे वे खेत की मली भी नहीं गिनतीं।"

सुरेखा झमक कर भुनभुनाती हुई नीचे उतरी। लक्ष्मी उस समय भारी मुंह किए तवे पर कूटू के परांठे उतार रही थीं; आज पूरनमासी का व्रत जो रखा था।

"जीजी!"—सुरेखा ने तीखे स्वर में कहा—"क्या कह दिया मिश्रानी को? ऐसे भला नौकर टिकते हैं!"

लक्ष्मी सन्न रह गई। इतना कड़ा स्वर आज पहली बार ही उसने सुना था। यकायक वह कुछ सहम-सी गई। एक क्षण चुप रह बोली, "टिके या न टिके, पर मैं तो अपना धर्म-कर्म नष्ट नहीं कर सकती!"

"नानसेन्स! बड़ा सुन्दर धर्म है....हाथ लगते ही छुई मुई हो जाय!"

लक्ष्मी बहुत नहीं बोलती है। इस घर में वह जन्म से रही है। अम्मा और बाबू जी ने भी कभी उसकी बात नहीं टाली। उसकी बात सदैव रखी गई है। रखने की बात भी थी। इसी घर और घर के प्राणियों के पीछे अपने सुसराल के भरे-पुरे घर की उपेक्षा कर दी थी उसने। इन्हीं छोटे भाई-बहनों के स्नेह से बँध कर वह अपनी जान को जान नहीं समझती थी। उसी के हाथों तो सब पले थे। दो दिन की आई बहू के बचन तीर से लगे। तवे का पराँठा उतार कर वह वैसी ही रसोई छोड़ कर उठ गई।

सुरेखा ऊपर चली जा चुकी थी।

दोपहर होने आई। लीला ने ऊपर आकर कहा—"भाभी नीचे जीजी बुला रही हैं।"

"क्यों ?"

"कोई दो-तीन औरतें आई हैं।"

"अच्छा! तो अभी मेरी मुँह दिखाई, से उनका मन भरा नहीं! चल आती हूँ! और सुरेखा साड़ी बदलने लगी।"

पूरे आध घंटे में ड्रैस करके सुरेखा नीचे उतरी।

"बहू, यह तुम्हारी चाची लगती हैं और यह भाभी, लक्ष्मीनें स्निग्ध स्वर में कहा, "पैर छू लो इनके!"

सुरेखा की भवों में बल पड़ गए। दम भर कर चुप रह कर धीरे-से उन स्त्रियों से बोली,—"नमस्ते!" फिर कुरसी पर कोहनी टेककर खड़ी हो गई।

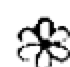
लक्ष्मी का मुँह लाल हो गया। सुरेखा दो मिनट खड़ी रही; फिर लीला से बोली—"लीला चलती हो हमारे साथ, मिसेज शुक्ला के यहाँ जाना है मुझे!"

लीला चुप रही। उसने बहिन की ओर देखा। लक्ष्मी से अब रहा न गया। भारी स्वर में बोली,—"बहन जायगी।"

"जायगी कैसे!" सुरेखा ने तिनक कर कहा,—"बाहर की हवा लगेगी तो लड़की बिगड़ न जायगी!"

"यही समझ लो,"—लक्ष्मी ने वैसे ही स्वर में उत्तर दिया, "जब हमारे घर की दो स्त्रियाँ बैठी हैं, तो उन्हें छोड़ कर वह कहीं न जायगी।"

सुरेखा पाँव पटकती हुई ऊपर चली उई!

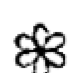
कुछ लोगों को दूसरों की बुराई करने में मजा आता है। उस बुराई भलाई में अपना निजी स्वार्थ चाहे न भी हो, किन्तु बिना इधर की उधर लगाए जैसे उनको रोटी हजम नहीं होती। मिश्रानी कुछ ऐसे ही जीवों में थी। उसे लक्ष्मी से चिढ़ थी। जब तक नियम पूर्वक सुरेखा से वह उसकी बुराई न कर लेती, उसे कल न पड़ती। यूं तो लक्ष्मी अब सुरेखा से अधिक सम्पर्क ही न रखती थीं। अपने काम से काम। फिर भी सुरेखा को ननद का कोई भी काम हो, यहाँ तक कि उठना-बैठना सभी कुछ गँवारपन दिखाई देता था।

लक्ष्मी मोहन को गाय के लिए भूसा देने गई थी। मिश्रानी ने अकेला पाकर सुरेखा को सुना कर कहा,—"बिना पैसे की गरमी पाये भला किसी में इतनी तेजी हो सकती है? और जब सदा से ताली-कुंजी इन्हीं के पास रही हो।"

अकस्मात् मिश्रानी का मुख फ़ख हो गया। लक्ष्मी की धोती का आँचल दीख पड़ गया था उसे। सुरेखा ने उसे चुप होते देखकर मुड़-कर देखा और तिक्त स्वर में बोली—"छिपकर किसी की प्राइवेट

बातें सुनने की सभ्यता इसी घर में देखी है ।'

लक्ष्मी नें सतेज स्वर में उसी तीव्रता से उत्तर दिया—"और छिपकर दूसरों की बुराई करना शायद आजकल की शिक्षा में शामिल है ! में बातें सुनने नहीं, तुमसे चाय पीने को पूछने आई थी"—और फिर कमर से तालियों का गुच्छा निकालकर उसने झम से कमरे में फेंक दिया—"लो सम्हालो अपना खजाना !"

"गिरीश, मैं थोड़े दिन के लिए जगतपुर जाऊँगी । रमेश की चिट्ठी आई है कि वह बीमार है ।"

"तो जीजी !" गिरीश ने इतस्ततः करके कहा—"फिर यहाँ का काम कैसे चलेगा ?"

"सब चल जायगा । अब तो बहू आ गई है न, आप सम्हाल लेगी ।"

बहू यानी सुरेखा घर चलायेगी । गिरीश चुप हो गया ।

गिरीश की चुप्पी चिटक कर सुरेखा को जैसे चिनगारी सी लगी—बोली—"नहीं जीजी, जाना मत हरगिज भी; नहीं तो देख लेना इस घर में कोई जीता न बचेगा !"

लक्ष्मी ने उत्तर नहीं दिया । अपने ठाकुर जी को पोटली में बाँध-बूध कर रखने लगी ।

गिरीश आफिस चला गया ।

और दो बजे की ट्रेन से लक्ष्मी मोहना को लेकर अपनी ससुराल चली गई ।

साढ़े तीन बजे बच्चे स्कूल से लौटे । घर में एक अस्तव्यस्तता

सी फैली थी। लीला ने रसोई घर झाँका, पूजा की कोठरी देखी, और फिर बैठ कर रोने लगी। उसकी जीजी कहीं नहीं थी।

सुरेखा माथे पर हाथ रखे लेटी थी। उसे रोते देखकर बोली—"इतनी अधिक भावुकता संचित है तो फिर एक उपन्यास लिख डालो न ! कुछ काम ही आयगी।"

लीला भाभी के भय से चुप हो गई। नारायण और जगदीश रसोई घर में बैठे सवेरे की रोटी खा रहे थे, क्यों कि आज जीजी तो थी नही, जो पहिले से ही ताजा हलवा बनाये रखतीं।

नौकर ने आकर पुकारा—"बहू जी ! गाय की सानी का सामान निकाल दो !"

सुरेखा ने ताली फेंक कर कहा—"जा निकाल कर दे !"

नौकर घबरा गया, बोला—"जी, सानी तो मोहना करता था, मुझे तो मालूम नहीं कि क्या-क्या देना होगा।"

सुरेखा आज मुश्किल में फँसी। गाय का भूसा-दाना तो दूर, उसने आज तक किसी को रसोई का आटा-दाल तो दिया ही न था। किन्तु अपनी यह अज्ञता वह नौकर को कैसे दिखाती ? "अच्छा ठहरो" कह कर वह ऊपर पहुँची, पुस्तकों की आलमारी में 'हमारे पशु' की एक प्रति पड़ी थी, उसे ढूंढ निकाला और पढ़ने लगी।

लीला ने तब तक दाना और भूसा निकाल कर नौकर को दे दिया था, जबकि पूरे आध घण्टे बाद सुरेखा ने पुस्तक से एक सूची उतारी और लीला को पुकार कर कहा "इतना-इतना सामान गनेशी को दे दो।"

लीला ने एक बार परचा पढ़ा, फिर दीवार की ओर मुंह करके हँसने लगी।

"हँसी क्यों ?" सुरेखा ने कुछ गुस्सा होकर पूछा--"कौन बात ग़लत है ? जरा बताओ ।"

"यह सेर भर बिनौले खिलाकर क्या गाय को मारोगी ?" लीला ने किसी तरह हँसी बन्द कर उत्तर दिया--"गाय के सब थन सूज जायेंगे ।"

"जी हाँ, एक आप ही तो अक़लमन्द की दुम हैं । वह इतना बड़ा राइटर गधा ही है," सुरेखा ने तेज़ी से कहा और फिर भभक कर गनेशी को बुलाया और कहा--"पाँच सेर भूसा, सेर भर दाल, सेर भर बिनौले ।"

"सेर भर बिनौले ?"

नौकर ने अचकचा कर पूछा ?

"हाँ हाँ, सेर भर ! सुनाई नहीं देता क्या ?" सुरेखा का स्वर बहुत कड़ा हो गया था ।

लीला ने नौकर को आँख मारकर इशारा किया । वह सुनकर चुपका चला गया ।

लीला टेबिल साफ़ करने लगी । गिरीश के आने का समय जो हो गया था ।

इतने में नीचे से मिश्रानी ने पुकारा--"बहू जी ! आज बाबू जी को चाय के साथ क्या दोगी ? मठरी तो परसों ही खतम हो गई थीं ?"

"कल क्या दिया था ?" सुरेखा ने खीज कर पूछा ।

"कल तो जीजी ने ताजे समोसे बना दिये थे ।"

'अब'--सुरेखा कुछ सोचकर बोली--"तुम चाय बनाओ । आज बिस्कुट रख देंगे ।" फिर बड़बड़ाई--"सारे घर की आदत खराब कर गई हैं महारानी जी ! किसी के गले से बाजार का मीठा नम-

कीन भी नहीं उतरता और ज़रा इन बच्चों को तो देखो कि सबेरे की रोटी तो खाई, पर बाज़ार से कुछ न लाया गया।"

गिरीश आ गया। कपड़े वगैरह उतारने पर जब चाय सामने आई, तो प्लेट में बिस्कुट और थोड़ा हलवा रखा देखा; बोला, "यह क्या लीला? आज नई बात क्यों?"

लीला जैसे शर्म से पानी-पानी हो गई। धीरे से बोली—"भइया! जीजी तो है नहीं, और मिश्रानी तो वही अपने समय से आई; सो मैंने जल्दी से हलवा ही कर लिया।"

गिरीश को मीठा नहीं भाता, न बिस्कुट ही। वह चुपचाप खाली चाय पीकर उठ गया। सुरेखा एक तो घंटे भर तक गाय के खल-भूसे की खोज में अध्ययन करते-करते थक चुकी थी, उस पर गिरीश का सब कुछ छोड़कर उठ जाना! पूरी जलती कढ़ाई का बैंगन हो गई वह। बिना चाय पिये ही उठ पड़ी।

"तो जीजी चली ही गई....." गिरीश ने सोचा और चुपचाप पलँग पर उदास मन लेट रहा।

*　　*　　*

अब मिश्रानी की पूरी आफ़त आ गई। गिरीश चार शाक तर-कारियों के बिना कौर नहीं तोड़ता था। लक्ष्मी ने कभी सादी थाली परोस कर खिलानी नहीं जानी, पर इस पर दही-बड़ा, अचार, चटनी अलग; मिश्रानी खाली फुलके सेंक देती थी। बहुत हुआ तो दो एक सब्जी भी उतार देती। सध्या को भी दूध चढ़ाकर चौका छोड़ देती थी और लक्ष्मी स्वयं ही मीठा मिलाकर सबको पिलाती और बचा हुआ जमा देती थी।

अब सब काम मिश्रानी पर था। दो दिन में ही उसके हाथ-पैर फूलने लगे—

सुरेखा की भी कम मुसीबत न थी, दम-दम पर नौकर कहता--"बहू जी आज यह नहीं है, आज वह नहीं; धोबी का हिसाब जोड़ दो और बनिये के सामान के पर्चे पर दस्तखत कर दो।"

हर दूसरे दिन मिश्रानी कहती "बहू जी घी निपट गया......... लकड़ी नहीं है।"

गिरीश ने अलग उसकी नाक में दम कर रखा था। वह हमेशा का ही लापरवाह है। अपनी किसी चीज़ की सम्हाल नहीं कर पाता, अब रोज आफ़िस जाने के टाईम पर पुकार पड़ती–"लीला! जरा मेरी कमीज़ में एक बटन तो लगाओ, और यह लो मेरा रूमाल कहाँ गया? सुरेखा ज़रा एक रूमाल तो निकाल दो और हत्तेरे की एक इलास्टिक ही ग़ायब है......।"

सुरेखा मारे ग़ुस्से से ओंठ चबाकर कहती--"इतनी भी सम्हाल नहीं रख सकते? तुम्हें आदमी किसने बनाया था जी....।"

तब गिरीश धीरे से कहता--"क्या बतायें–हमारी सम्हाल तो जीजी कर लेती थी!"

और सुरेखा के आग जो एडी से लगती तो चोटी पर ही जाकर बुझती, "तो जीजी को ही घर में.......मुझे क्यों लाये थे...।"

उस दिन जब गिरीश आफ़िस चला गया, तब सुरेखा कागज़, कलम लेकर मीनू बनाने बैठी। अब वह हमेशा का झगड़ा निपटा देगी। जिस मौसम में जो तरकारियाँ होती हैं, उन्हें इस हिसाब से बाँटेंगी कि कम से कम तीन दिन तक पहिली सब्जी न बन पाये। गनेशी को पुकार कर पूछा--"गनेशी इन दिनों क्या-क्या मिलता है बाजार में?"

"जी"--गनेशी ने सोचा इन्हें इतना भी नहीं मालूम? फिर बोला--"आलू, गोभी, मटर, शलजम....।"

"एक एक करके बोलो जी—"

नौकर चुप हो गया।

पूरे तीन घंटे में सुरेखा ने मीनू तैयार किया किया पाँच पृष्ठ रंग कर। उफ़ सिर में दर्द होने लगा उसके। गनेशी ने स्वस्ति की साँस ली और नीचे भागा, किन्तु सुरेखा को अभी छुटकारा कहाँ? गाय के बच्चा होने वाला है; ग्वाला कह रहा था; सो अभी "पशु चिकित्सा" आदि देखने थे। ऐस्प्रीन की एक टेबिलैट निगल कर फिर कुर्सी पर आ बैठी। अभी दो ही पृष्ठ पढ़े थे कि नीचे की चिल्ल-पुकार ने उसका ध्यान भंग कर दिया, गनेशी चीख पुकार रहा था— "बहू जी, लाली लौट आई!"

सुरेखा पुस्तक पटक कर नीचे उतरी। देखा कि गाय बुरी तरह डकरा रही थी, मछली-सी तड़प-तड़प कर पटखियाँ ले रही थी। सुरेखा को तो फ़िट पड़ जाने का संदेह होने लगा अपने ऊपर— "राम करे मर जाय यह मोहना! गया सो लौटा ही नहीं—"

ग्वाला पास ही खड़ा था। बोला—"बहू जी! बुलाओ किसी को नहीं तो लाली बचती नहीं दीखती, पेट में ही उल्टा हो गया है बच्चा!"

"क्या करूँ—"सुरेखा सोचने लगी।

"बहू जी रामचरन को बुला लूँ?"

"हिश! वह क्या करेगा? ठहरो मैं डाक्टर चटर्जी को फ़ोन करती हूँ—"

बराबर में टेलीफ़ोन-इन्सपेक्टर रहते थे। सुरेखा ने वहीं से फ़ोन किया। डाक्टर नहीं मिले। अब बड़ी मुश्किल पड़ी।

ग्वाला रामचरन को बुला लाया।

रामचरन मोहल्ले में मवेशियों का डाक्टर था—वे-पढ़ा-लिखा। उसका तो यह पुश्तैनी पेशा था। उसके खानदान का हरेक बाप अपने बेटे को इसे सिखा जाता था और आशीर्वाद के रूप में हाथ में शफ़ा दे जाता था। सो रामचरन के हाथ में भी शफ़ा था। घरेलू दवाइयाँ जानता था। अक्ल, अनुभव और विश्वास से काम लेता था। देखभाल कर रामचरन ने कहा—"गरम चीज देनी होगी, गैया शीत में आ पड़ी है। थोड़ा गुड़ मँगाओ, उसे पका कर····"

"गुड़ घी ! इससे तो ब्रान्डी ही ठीक रहेगी। गर्मी ही तो पहुँचानी है न ? सो ब्रान्डी फ़ौरन पहुँचायेगी—और फिर उसके नशे में इसका दर्द भी हलका पड़ जायगा·····।"

बात की बात में एक बोतल ब्रान्डी भी आ गई। और आधी बोतल बलात् लाली के गले में उतार दी गई·····! और उफ़·····! लाली ने दश मिनिट में सारा घर सिर पर उठा लिया ! ग्वाले और रामचरन की आफ़त आ गई। सुरेखा का जी कर रहा था कि घर छोड़ कर भाग जाय और इस मोहना और जीजी को·····! राम राम करके लाली ने बछड़ा दिया। कई दिन बाद वह स्वस्थ हुई। ब्रान्डी ने बुरी दशा जो कर दी थी।

आज मिश्रानी ने जवाब दिया, यह रोग मेरे बस का नहीं है। आठ रुपये में इतना काम ? सारा दिन यहीं खप जाता है।"

गिरीश ने नाराज़ होकर कहा—"तो जाओ न। हमें क्या नौकर नहीं मिलेंगे ?"

सुरेखा भी मिश्रानी से खुश नहीं थी। इतना सामान आता था घर में, फिर भी हर समय तंगी बनी रहती थी। उसने भी कह दिया—"जाओ, तुम न होगी तो क्या हमें खाना नहीं मिलेगा ?"

मिश्रानी कहाँ की भली थी ! जब नौकरी ही छोड़नी, तब दवे

क्यों ? बोली—"मिला बस खाना ! दाल में नमक छोड़ना तो आता ही नहीं !"

ग़जब ! सुरेखा तिलमिला गई ।

गिरीश ने कोट पहिनते कहा—"अच्छा तो सुरेखा आज शाम को होटल में खा लेंगे । कल तक कोई मिसर मिल ही जायगा । क्या बताएँ, लीला भी कैसे समय बीमार पड़ी ।"

सुरेखा अब सह न पाई । भरे हुए स्वर में बोली—"होटल-बोटल की बात ग़लत है । चार आदमियों का खाना ही क्या ? सब बन जायगा—"

जब गिरीश आफ़िस चला गया, तब सुरेखा सागूदाना पकाने बैठी । डाक्टर नें लीला को बताया था । जाने कैसा सागूदाना था कि दूध में पड़ते ही जम गया । चमचा मारते-मारते सुरेखा तंग आ गई, पर उसमें पड़ी गुठलियें न खुलीं, न खुलीं । गरम-गरम कई छींटें सुरेखा के मुंह पर उचट कर आ पड़े । चीख कर नौकर से बोली—"गधे, कैसा सागूदाना लाया है ? नक़ली है एकदम !"

गनेशी सिटपिटा कर बोला—"जी ! वही तो है, जो परसों छोटी बीबी ने मुन्ने के लिए पकाया था—"

सुरेखा के तब धीरे से ओंठ हिले—"पुराना हो गया है शायद इसी से—"

लीला ने जब सागूदाना देखा, तो हँसी से उसका बुरा हाल हो गया । जैसे-तैसे दो चम्मच खाये । फिर कटोरा पलंग के नीचे सरका कर लेट गई ।

सुरेखा दोपहर से ही रसोईघर की शोभा बढ़ा रही थी; पाक-शिक्षा, पाक-चन्द्रिका, गृहिणी-शिक्षा की जिल्दें क्रम से खुली हुई थीं—

और हाथ में थे तराज़ू-बाट। आज सब सामान तौल कर हिसाब से वह ऐसा भोजन तैयार करेगी कि खाने वाले भी अंगुलियाँ चाटें। सेर भर आलू में दो तोला नमक, सवा तोला धनिया, एक तोला हल्दी और····पर हवा के झोंके से पृष्ठ मिल गये। सुरेखा ने तराज़ू रख कर पुस्तक फिर सम्हाली--

तीन बजे तक उसने सब तरकारियों के मसाले और समोसे का सामान छाँट कर रख लिया।

साढ़े तीन बजे स्टोव और अंगीठी सुलगाकर वह रसोई बनाने लगी। बड़ी मुसीबत थी। प्याज़ काटने से आँखें बीरबहूटी बन गई थीं; मसाला अलग हाथों में जलन पैदा कर रहा था; ऐनक की कमानी स्टोव की तेजी से गरम हो उठी, तो उसे उतारते समय हाथ की चिकनाई से वह फिसलकर कढ़ाई में जा पड़ी--! उफ़ बैठे बिठाये सोलह रुपये का यह नुकसान हो गया।

सुरेखा ने अफ़सोस से दोनों हाथ मले। पर अब हो क्या सकता था?

साड़ी में हल्दी के धब्बों की तो कुछ पूछो मत। इतनी गंदी धोती उससे अपनी 'लग्न' के दिनों में भी न पहनी थी!

दस समोसे बनाये और पूरा डेढ़ पाव घी फुक गया! जाने जीजी कैसे रोज़ बनाती थी? ऐसे तो दिवाला निकल जाय!

छै बजे तक सुरेखा ने कई तरकारियाँ बना डालीं। बस सूखे आलू ज़रा जल गये थे; मटर में थोड़ा शोरबा अधिक हो गया था; परवल जाने बासी थे या क्या, कि दो घंटे भुनने पर भी गीले ही रह गये थे; समोसे भी ठंडे होकर जाने क्यों ऐंठ से गये थे। बात यह थी कि मोयन डालना भूल गई थी। क्या-क्या याद रखे सुरेखा। दर्द से माथा फटा जा रहा था सो अलग, आज गिरीश अभी तक आफ़िस से न लौटा।

था। चाय रखी-रखी काली पड़ गई। सुरेखा की भुनभुनाहट से रसोई मुखरित हो रही थी। गनेशी और दूसरे नौकरों की टाँगें बाजार जाते जाते तोबा बोल रहीं थीं।

साढ़े छै बजे गिरीश आया। चाय भेजकर सुरेखा समोसे बनाने बैठी!

गिरीश ने कहा—"क्या होगा समोसों का, अब खाना ही खा लूंगा।" किन्तु वह मानी नहीं। बानगी जो दिखानी थी!

गिरीश ने चाय का एक सिप लेकर समोसे का टुकड़ा तोड़ा ही था कि 'ओ!" करके वह कुर्सी से उछल पड़ा और थू-थू करता बाहर आ गया।

"क्यों क्या हुआ?" सुरेखा ने उसे आँगन में नाचते हुए देखकर पूछा।

"क्या डाल दिया समोसों में, मालूम होता है जैसे टारटैरिक ऐसिड् में पकाये हैं!"

"तुम भी ख़ूब हो—" सुरेखा चिटख पड़ी—"पहिले खाना सीख लो। मैं तो खटाई से वैसे ही दूर भागती हूँ। कसम खाने को तो डाली नहीं।"

गिरीश चुपचाप कुल्ला करके कमरे में चला गया।

इतनी सरदर्दी का यह पुरस्कार! सुरेखा के तन-बदन में आग लग गई। भुनभुनाती हुई वह कमर से आँचल लपेट कर पूरियाँ उतारने लगी। कमबख़्त आधी से अधिक तो थाल से ही चिपट गई थीं, जो छूटी उनमें से मुश्किल से दो-चार ही फूलीं। खैर बन गई किसी तरह।

सुरेखा ने थाल परोस कर नौकर के हाथ भेजा और कढ़ाई चूल्हे

पर ही छोड़ कमरे में पलंग पर आ लेटी। इतनी मुसीबत कभी न उठाई थी उसने। हाथ में कई जगह छाले पड़ गये थे; गरम घी आ पड़ा था, सो जलन हो रही थी। जब लेटा न गया, तो उठ कर दूसरे कमरे में चली, जहाँ गिरीश भोजन करने बैठा था कि अकस्मात गिरीश ने थाल झन्न से नीचे पटक दिया। फूल का थाल गिरकर खील-खील हो गया। कटोरियाँ आँगन में जा पड़ीं!·····

"सब चीजों में खटाई भरी पड़ी है! पूरियाँ जल गईं, सो अलग।" गिरीश ने आँगन में आकर कहा।

सुरेखा और गिरीश में तर्क-युद्ध छिड़ गया। वह कहता था कि खटाई भरी पड़ी है, और वह कहती थी कि खटाई मैंने आँख से भी नहीं देखी आज, डालने की तो रही अलग। लीला की ज़रा आँख लग गई थीं। गर्जन-तर्जन सुनकर जाग पड़ी, फिर भाई-भावज की गरम-गरम बातें सुनने लगी।

देर तक सुनने के बाद उसने पुकार कर कहा—"भाभी। तुमने क्या मसालेदानी में जो डिबिया थी, उसमें से डली निकाली थी?"

"हाँ, नमक थोड़ा था, सो कूटकर मिला ली थी·····!"

"अरे!"—लीला ने कहा वह तो टाटरी थी!"

* * *

रात को सुरेखा को ज्वर चढ़ आया।

सबेरे गिरीश ने गनेशी से कहा—"जा डाक्टर चटर्जी से सब हाल कहकर दवा ले आ और सुन, ले यह अरजी, श्यामसुन्दर बाबू को दे आ, दो दिन की छुट्टी ली है मैंने······!"

और दोपहर की गाड़ी से गिरीश जीजी को लिवाने चला—

(जून, १६४०)

श्री लक्ष्मीनारायण लाल

श्री लक्ष्मीनारायण लाल का जन्म सन् १९२६ में बस्ती ज़िला के अन्तर्गत जलालपुर गाँव में हुआ। इंटर तक बस्ती में शिक्षा पाई। इसके बाद प्रयाग आ गये। यहीं से बी० ए० और फिर एम० ए० पास किया। इस वर्ष पी-एच० डी० के लिए अपना शोध-प्रबन्ध दिया है। आप हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के हिन्दी विश्व-विद्यालय में अध्यापक हैं। नवयुवक साहित्यकारों में आपका एक प्रतिष्ठित स्थान है। आपने २०-एक एकांकी नाटक लिखे हैं जिनमें से अधिकांश रेडियो से प्रसारित हो चुके हैं। आपके तीन उपन्यास—'रक्तदान', 'कसक' और 'धरती की आँखें'—प्रकाशित हो चुके हैं। 'धरती की आँखें' पर आपको उत्तर-प्रदेश सरकार की ओर से पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। आपकी कहानियों का एक संग्रह 'मैं आईना हूँ' नाम से प्रकाशित हुआ है। आपकी कहानियाँ प्रायः वातावरण-प्रधान रहती हैं। भाषा, भाव, व्यक्ति और स्थान का समुचित वातावरण उपस्थित करने में आपको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। प्रस्तुत कहानी एक पारिवारिक तथ्य को लेकर रची गई है। इसमें ग्रामीण वातावरण के बीच एक भाई-बहिन की स्नेहभरी दुःखांत कथा है। कथानक इतनी ही है कि राधा दीदी गाँव के वार्षिक मेले पर नहीं आईं तो मायके में चिंता होने लगी। अनन्दू अपनी बहिन के लिए मिठाई-विठाई लेकर उसके गाँव